चौखम्बा अमरभारती ग्रन्थमाला

३४

श्रीवल्लालकविविरचितः

भोज - प्रबन्धः

'विद्योतिनी' संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेतः

व्याख्याकारः—

डॉ० देवर्षिसनाढ्य शास्त्री

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्.

गोरखपुर-विश्वविद्यालयप्राध्यापकः
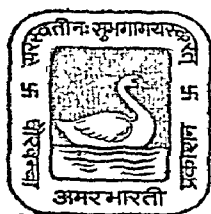
चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन

वाराणसी

१९७९

प्रकाशक : चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी

मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०३६

मूल्य : [illegible]-००

के० ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन

पो० बा० १३८, वाराणसी-२२१००१

(भारत)

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन

पो० बा० ८, वाराणसी-२२१००१

फोन : ६३१४५

CHAUKHAMBA AMARABHARATI GRANTHAMALA

34

BHOJA PRABANDHA

OF

S R Ī B A L L Ā L A

Edited with

The 'Vidyotini' Sanskrit-Hindi Commentaries

By

Dr. DEWARṢĪ SANADHYA ŚASTRI

M. A., Ph-D., D. Lit.

Prof. Gorakhpur University, Gorakhpur.

Chaukhamba Amarabharati Prakashan

VARANASI–221001

1979

प्रस्तावना

संस्कृत साहित्य की इतिकथा में वल्लाल नामक दो विद्वानों का उल्लेख होता है— एक तो नवीं शती का उत्तरार्द्ध जिनका कार्यकाल माना जाता है, वे 'वल्लाल शतक' नामक अन्योक्ति काव्य के रचयिता और दूसरे 'भोज प्रबंध' के विधाता। 'भोजप्रबंध'कार का पूरा नाम कदाचित् वल्लाल सेन था और ये कदाचित् सोलहवीं शती में हुए थे।

भोज भी एकाधिक व्यक्ति का नाम था। एक विदर्भराज भोज थे, इनका समय ग्यारहीं शती (१००५–१०५४) माना जाता है। ये 'रामायणचम्पू' के रचयिता माने जाते हैं। दूसरे भोज भी ग्यारहवीं शती के राजा हैं, धारानगरी जिनकी राजधानी थी। कहा जाता है कि ये बड़े ही काव्यरसिक और विद्वानों का संमान करनेवाले राजा थे। संभवतः ये भोज ही अलंकारशास्त्री थे और 'सरस्वतीकण्ठाभरण', 'शृङ्गारप्रकाश' और 'समराङ्गणसूत्रधार' इन्हीं की कृतियाँ हैं। ऐसा भी माना जाता है कि ये भोज धारा के राजा मुंजराज के भतीजे थे, जो स्वयम् बड़ा कला प्रेमी और रसिक था। मुंज को 'पृथ्वी वल्लभ' कहा जाता था। तैलप राजा की भगिनी मृणालवती और मुंज की रोमांचक प्रेमगाथा की चर्चा अपभ्रंश-गाथाओं में प्राप्त होती है।

'भोज-प्रबंध' कदाचित् इन्हीं श्रीभोज को आधार बनाकर वल्लालसेन द्वारा रचित एक कथोपकथा संकलन है। ऐसे संकलन की प्रवृत्ति जैन साहित्य में प्राप्त, मेरुतुङ्ग-रचित 'प्रबंध चिंतामणि' तथा राजशेखर सूरि कृत 'प्रबन्ध कोश' के रूप में है। उसी का परिणाम 'भोजप्रबन्ध' है, मित्रवर डॉ॰ भोला शङ्कर व्यास का यह विचार समीचीन ही प्रतीत होता है।

यह सब है, फिर भी 'भोज प्रबन्ध' को ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक महत्त्व देना कदाचित् बहुत ठीक नहीं है। इसके पात्र अनेक कवि एक समय में जिनमे काव्यविलासी नहीं थे; उनका कार्यकाल भिन्न और अनेक है। इस स्थिति में 'भोज-प्रबंध' को एक मनोरंजक काव्य-सूक्ति-संग्रह मानना ही अधिक

उपयुक्त और उचित है। यह 'काव्यविनोद' है, जो धीमन्त जनों के कालयापन के कार्य में आता था। यह वही है, जिसके द्वारा वाण भट्ट की 'कादम्वरी' का शूद्रकराज 'आवद्धविदग्धमण्डलः काव्य-प्रवन्धरचनेन' दिवस व्यतीत करता था और 'काव्यनाटकाख्यानकाख्यायिकालेख्यव्याख्यानादि क्रिया-निपुण' आत्मप्रतिविम्व राजपुत्रों के साथ आनन्द मनाया करता था। एक अजव-सा निराश उच्छ्वास निकल पड़ता है, जब आज के नव-श्रीमन्तों के साथ क्लवों और द्यूतागारों में ताश फटकारती संध्याओं की प्रचुरता में उन बीते दिनों की याद हो आती है। कहाँ 'काव्यशास्त्रविनोद' में धीमान् जनों की व्यतीत होती वह स्पृहणीय मधुरवेला और कहाँ व्यसन, निद्रा और कलह में वीतता जाता यह कुसमय ? वे दिन शायद नहीं लौटेंगे—'ते हि नो दिवसा गताः' : पर यदि लौट आते…………?

कौन थे भोज ? कौन था वल्लाल ? कव था ? कहाँ था ? प्रमुख यह सव प्रश्न नहीं है, प्रमुख है वह काव्य और काव्यमर्मज्ञों की आराधना। वह भोज श्लाध्य है, जिसकी सभा में कालिदास, वाण, भवभूति आदि काव्य पारखी, काव्य के विधाता एक साथ उपस्थित होगये हैं और धन्यवादार्ह है वह संकलक वल्लाल सेन, जिसने उन प्रशंसनीय घड़ियों को कथा निगुंफित कर दिया है। इतिहास का स्थूल सत्य भले ही इसमें न हो, पर जीवन को स्पंदन देने वाले सत्यक्षण तो निश्चित ही हैं। निश्चय ही यह एक मनोरम, मनोरंजक कृति है। 'भोज प्रवंध' धीमानों के कालयापन का एक श्रेष्ठ आदर्श है। भोज 'मोनियर विलियम्स' के अनुसार 'असाधारण गुणों का स्वामी राजा' (ए किंग विद अनकामन क्वालिटीज़) ही नहीं है, वह 'वेस्टोइंग इंज्वाय मेंट'—अर्पित रसास्वादन भी है।

'विद्योतिनी'-आख्या के हिंदी-भाव-सहित 'भोजप्रवंध' के प्रस्तुत संस्करण को छत्तीस कथा भागों में' विभक्त कर पढ़ने में अधिक सुख-सुविधा प्रतीत हुई। भावकार का यह स्वतंत्र प्रयत्न है और कथा भागों का नामकरण भी उसी की सूझ है। सूझ तो उसकी यहाँ तक है कि अनेक स्थलों पर 'भोज प्रवंध' के पुण्य श्लोकों को तुक-वेतुक, छन्द, छंदहीन पद्यों में उपस्थित करने की भी दुश्चेष्टा कर वैठा है। वह भली भाँति जानता है कि यह 'प्रांशुलभ्य

'फल' के प्रति हास्यास्पद 'वामन की उद्बाहुता' है और उसका दुष्फल भोगने को उसे तैयार रहना है, फिर भी—मगर फिर भी। भोगने दो 'मन्द' को 'कवि यशः प्रार्थी' बनने के लोभ का कुपरिणाम।

'भोज-प्रबंध' के अनेक हिन्दी-रूप हैं; ऐसी स्थिति में 'विद्योतिनी' का उद्योगी इस उद्यम को अपना देवमंदिर की देहली पर एक वराटी चढ़ाने का अधिकार मानता है। और यह अधिकार उसे मिलना ही चाहिए। कविवर मैथिलीशरण के शब्दों में—

'जय देवमंदिर देहली,
समभाव से जिस पर चढ़ी
नृप हेम मुद्रा और रंकवराटिका।

२६-ग, हीरापुरी, गोरखपुर,
विश्वविद्यालय परिसरः
वि० सं० २०३५

—देवर्षि सनाढ्य

विषय-सूची

क्रम सं०		पृष्ठ
१.	भोजस्य राज्य प्राप्ति	१
२.	गोविन्द पण्डित भोजराजेन च विदुषां संमान।	२२
३.	राजसभायां कालिदासस्य आगमनम्	३१
४.	कालिदासेन भोजः प्रशंसितः	३६
५.	सभायांश्रुतिपारङ्गता-विद्वांसः	३८
६.	कविर्लक्ष्मीधरः कुविन्दश्च	४१
७.	रात्रौ राज्ञो नगर भ्रमणम्	४५
८.	क्रीडाचन्द्रः	५०
९.	राजेश्वर कवेरन्यकवीनां च सत्कारः	५४
१०.	कालिदासस्य कलङ्कनिवारणं	५७
११.	विदुषां सत्कारः— कतिपय कथा।	७८
१२.	भोजस्य विक्रमादित्यसमं दानम्	८७
१३.	भोजस्य काव्यानुरागः— कतिपय कथाः	९५
१४.	सिन्धु कविः	९९
१५.	समाप्तेऽपि कोशे राज्ञा दानम्	१०२
१६.	अद्भुतदानस्य कतिपयकथाः	१०६

क्रम सं०		पृ०
१७.	भोजस्य दर्पभङ्गः	११
१८.	विपुलदानस्य कतिपयकथाः	११
१९.	कालिदासभवभूत्योः स्पर्धा	१२
२०.	दानस्य कतिपय कथाः	१२
२१.	देवज्ञ हरिशर्मणोः स्पर्धा	१३
२२.	विदुषां कार्यगमनम्	१३
२३.	शोकग्रस्तो राजा	१४
२४.	काव्यक्रीडा	१४
२५.	अदृष्ट परहृदय-बोद्धा कालिदासः	१४
२६.	अदृष्टबोधस्य अन्याः कथाः	१५
२७.	ब्रह्मराक्षस निवारणम्	१६
२८.	मल्लिनाथस्य दारिद्र्य-निवारणम्	१६
२९.	राज्ञः सर्वस्वदानम्	१६
३०.	तक्रविक्रेत्री युवती	१६
३१.	विलक्षण-समस्यापूर्तिः	१७
३२.	चौरो कुकुण्डः कविः	
३३.	कविसत्कारः	१७
३४.	रोगी राजा	१७
३५.	मायासभाया वीठिका	१७
३६.	राजस्वरगीतिः	१७

॥ श्रीः ॥

भोजप्रबन्धः

'विद्योतिनी' हिन्दीव्याख्योपेतः

(१) भोजराजस्य राज्यप्राप्तिः

स्वस्ति श्रीमहाराजाधिराजस्य भोजराजस्य प्रबन्धः कथ्यते—

आदौ धाराराज्ये सिन्धुलसंज्ञो राजा चिरं प्रजाः पर्यपालयत्। तस्य वृद्धत्वे भोज इति पुत्रः समजनि। स यदा पञ्चवार्षिकस्तदा पिता ह्यात्मनो जरां ज्ञात्वा मुख्यामात्यानाहूयानुजं मुञ्जं महाबलमालोक्य पुत्रं च बालं वीक्ष्य विचारयामास—

मंगल हो। श्री महाराजाधिराज भोजराज की कथा कही जाती है—

प्राचीन काल में सिंधुल नामक राजा बहुत समय तक प्रजा का परिपालन करता रहा। उसके बुढ़ापे में भोज नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह जब पाँच वर्ष का था तब पिता (राजा) ने अपना बुढ़ापा समझ मुख्य मंत्रियों को बुलाया और अपने छोटे भाई मुंज को महाबली और पुत्र (भोज) को बालक देख कर विचार करने लगा।

'यद्यहं राज्यलक्ष्मीभारधारणसमर्थं सोदरमपहाय राज्यं पुत्राय प्रयच्छामि, तदा लोकापवादः। अथवा बालं मे पुत्रं मुञ्जो राज्य-लोभाद्विषादिना मारयिष्यति, तदा दत्तमपि राज्यं वृथा। पुत्रहानि वंशोच्छेदश्च।

यदि मैं राज्यलक्ष्मी का भार उठाने में समर्थ सगे भाई को छोड़कर (५ वर्ष के) पुत्र को राज्य दूँ तो लोकनिंदा होगी। अथवा मेरे अबोध बालक पुत्र को राज्य लोभ से मुंज विष आदि द्वारा यदि मरवा देगा तो दिया हुआ राज्य भी व्यर्थ हो जायेगा। पुत्र की हानि होगी और वंश का विनाश भी हो जायगा।

लोभः प्रतिष्ठा पापस्य प्रसूतिर्लोभ एव च ।
द्वेषक्रोधादिजनको लोभः पापस्य कारणम् ॥ १ ॥

लोभ पाप का मूल है और लोभ ही पाप का जनक है। द्वेष, क्रोध आदि को उत्पन्न करनेवाला लोभ पाप का कारण होता है ॥ १ ॥

लोभात् क्रोधः (१) प्रभवति क्रोधाद् द्रोहः प्रवर्तते ।
द्रोहेण नरकं याति शास्त्रज्ञोऽपि विचक्षणः ॥ २ ॥

लोभ से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से द्रोह का प्रवर्तन होता है। शास्त्रों का ज्ञाता विद्वान् भी द्रोह के कारण नरकगामी बनता है ॥ २ ॥

मातरं पितरं पुत्रं भ्रातरं वा सुहृत्तमम् ।
लोभाविष्टो नरो हन्ति स्वामिनं वा सहोदरम्' ॥ ३ ॥

लोभ से आविष्ट मनुष्य माता-पिता, पुत्र, भाई, घनिष्ठ मित्र, स्वामी और सगे भाई की भी हत्या कर डालता है ॥ ३ ॥

इति विचार्य राज्यं मुञ्जाय दत्त्वा तदुत्सङ्गे भोजमात्मजं मुमोच । ततः क्रमाद्राजनि दिवं गते सम्प्राप्तराज्यसम्पत्तिर्मुञ्जो मुख्यामात्यं बुद्धिसागरनामानं व्यापारमुद्रया दूरीकृत्य तत्पदेऽन्यं नियोजयामास । ततो गुरुभ्यः क्षितिपालपुत्रं वाचयति ।

ऐसा विचार करके उसने राज्य मुंज को दे दिया और भोज को उसकी छत्रच्छाया में छोड़ दिया। कुछ दिनों बाद (सिंधुल) राजा के दिवंगत होने पर राज्य-संपदा प्राप्त करके मुंज ने बुद्धिसागर नामक मुख्य मंत्री को मंत्रिपद से हटा दिया और उसके स्थान पर अन्य की नियुक्त कर दी। राजकुमार (भोज) को गुरुजनों से शिक्षा दिलाने लगा।

ततः क्रमेण सभायां ज्योतिःशास्त्रपारङ्गतः सकलविद्याचातुर्यवान् ब्राह्मणः समागम्य राज्ञे 'स्वस्ति' इत्युक्त्वोपविष्टः । स चाह—'देव, लोकोऽयं मां सर्वज्ञं तत्किमपि पृच्छ ।

कण्ठस्था या भवेद्विद्या सा प्रकाश्या सदा बुधैः ।
या गुरौ पुस्तके विद्या तया मूढः प्रतार्यते' ॥ ४ ॥

इति राजानं प्राह ।

(१) वर्धत इति भावः ।

तदनंतर कुछ दिनों पश्चात् राजसभा में ज्योतिःशास्त्र में पारंगत, समस्त विद्याओं के कौशल से संपन्न एक ब्राह्मण आया और राजा के प्रति कल्याण-वचन कहके बैठ गया तथा राजा से बोला—"देव, यह संसार मुझे सर्वज्ञ कहता है, सो (आप भी इच्छानुसार) कुछ पूछिए :—

जो विद्या कंठस्थ हो, बुद्धिमानों को सदा उसे प्रकाशित करना उचित होता है; जो विद्या गुरु अथवा पुस्तक में ही स्थित है, उससे मूर्ख को ही ठगा जा सकता है। (अथवा पुस्तकस्थ या गुरुस्थित विद्या से विद्वत्ता का अभिमानी बना मनुष्य मूर्ख होता है और धोखा खाता है।)

ततो राजापि विप्रस्याहम्भावमुद्रया चमत्कृतां तद्वार्तां श्रुत्वा 'अस्माकं जन्मारभ्यैतत्क्षणपर्यन्तं यद्यन्मयाचरितं यद्यत्कृतं तत्तत्सर्वं वदसि यदि, भवान्सर्वज्ञ एव' इत्युवाच। ततो ब्राह्मणोऽपि राज्ञा यद्यत्कृतं तत्तत्सर्वमुवाच। गूढव्यापारमपि। ततो राजापि सर्वाण्यप्यभिज्ञानानि ज्ञात्वा तुतोष। पुनश्च पञ्चषट्पदानि गत्वा पादयोः पतित्वेन्द्रनील-पुष्परागमरकतवैडूर्यखचितसिंहासन उपवेश्य राजा प्राह—

'मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते
कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खेदम्।
कीर्तिं च दिक्षु विमलां वितनोति लक्ष्मीं
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या' ॥ ५ ॥

ततो विप्रवराय दशाश्वाना (१) जानेयान् ददौ।

तत्पश्चात् ब्राह्मण की अहंकार युक्त मुद्रा से चमत्कारमयी उस वाणी को सुनकर राजा ने भी कहा—"जन्म से लेकर इस क्षण तक जो-जो आचरण और जो-जो कार्य मेरे द्वारा हुए हैं, वे सब यदि आप बता देंगे तो मैं भी आपको सर्वज्ञ समझूँगा।" तब राजा ने जो-जो किया था, वह सब—यहाँ तक कि गुप्त रूप से किया कार्य भी—ब्राह्मण ने बता दिया। राजा भी समस्त श्रेय वार्तों को जान कर संतुष्ट हुआ और फिर पाँच-छः डग आगे बढ़ ब्राह्मण के चरणों में प्रणिपात करके नीलम, पुखराज, पन्ना और वैदूर्य

(१) ये कुलीनाः प्रशस्तजातिभवा अश्वास्ते आजानेयाः। आजेन क्षेपेणानेयाः प्रापणीया इति विग्रहः।

मणियों से जड़े सिंहासन पर (उसे) बैठाकर बोला—

"माता के सदृश रक्षा करती है, पिता के समान कल्याण करने वाले कार्यों में नियुक्त करती है और प्रिय पत्नी के तुल्य खिन्नता को दूर कर प्रसन्न करती है। चारों दिशाओं में विमल कीर्ति और लक्ष्मी का विस्तार करती है—कल्पलता के समान विद्या क्या-क्या सिद्ध नहीं कर देती ?" और विप्रवर को दस उत्तम जाति के घोड़े दिये।

ततः सभायामासीनो बुद्धिसागरः प्राह राजानम्—'देव, भोजस्य जन्मपत्रिकां ब्राह्मणं पृच्छ' इति। ततो मुञ्जः प्राह—'भोजस्य जन्मपत्रिकां विधेहि' इति। ततोऽसौ ब्राह्मण उवाच—'अध्ययनशालाया भोज आनेतव्यः' इति। मुञ्जोऽपि ततः कौतुकादध्ययनशालामलङ्कुर्वाणं भोजं भटैरानाययामास। ततः साक्षात्पितरमिव राजानमानम्य सविनयं तस्थौ।

तदनंतर सभा में बैठा बुद्धिसागर राजा से बोला—'देव, भोज की जन्मपत्रिका ब्राह्मण से विचरवाइए।' तब मुंज ने कहा—'भोज की जन्मपत्री विचारिए।' तब ब्राह्मण बोला—'पाठशाला से भोज को बुलवाइए।' कौतुक के कारण मुंज ने भी पाठशाला में सुशोभित भोज को भटों द्वारा बुलवा लिया। साक्षात् पिता के समान राजा को प्रणाम करके विनय पूर्वक भोज बैठ गया।

ततस्तद्रूपलावण्यमोहिते राजकुमारमण्डले प्रभूतसौभाग्यं महीमण्डलमागतं महेन्द्रमिव, साकारं मन्मथमिव, मूर्तिमत्सौभाग्यमिव, भोजं निरूप्य राजानं प्राह दैवज्ञः—'राजन्, भोजस्य भाग्योदयं वक्तुं विरिञ्चिरपि नालम्, कोऽहमुदरम्भरिर्ब्राह्मणः। किञ्चित्तथापि वदामि स्वमत्यनुसारेण। भोजमितोऽध्ययनशालायां प्रेषय।' ततो राजाज्ञया भोजे ह्यध्ययनशालां गते विप्रः प्राह—

'पञ्चाशत्पञ्चवर्षाणि सप्तमासदिनत्रयम्।
भोजराजेन भोक्तव्यः सगौडो दक्षिणापथः' ॥ ६ ॥

इति। तत्तदाकर्ण्य राजा चातुर्यादपहसन्निव सुमुखोऽपि

वि (१) च्छायवदनोऽभूत्।

तदनंतर उस (भोज) के रूप और सौंदर्य पर मुग्ध, राजकुमारों के मध्य महान् सौभाग्यशाली, धरती पर उतरे महेंद्र के समान, साकार कामदेव के सदृश, मूर्तिमान् सौभाग्य के तुल्य भोज को देख कर ज्योतिषी ने राजा से कहा—'राजन् भोज के भाग्य का वर्णन तो ब्रह्मा भी करने में पर्याप्त नहीं है, मैं पेटपालू ब्राह्मण किस गिनती में हूँ? तो भी अपनी बुद्धि के अनुसार कुछ कहता हूँ। आप भोज को यहाँ से विद्यालय भेज दीजिए।' तत्पश्चात् राजा की आज्ञा से भोज के विद्यालय चले जाने पर ब्राह्मण ने कहा—'पचपन वर्ष, सात मास और तीन दिन राजा भोज बंगाल सहित दक्षिणा पथ का राज्य भोगेंगे।' तब यह सुन कर चतुरतापूर्वक विरूपता से हँसता हुआ सुमुख भी राजा मलिनमुख हो गया।

ततो राजा ब्राह्मणं प्रेषयित्वा निशीथे शयनमासाद्यैकाकी सन् व्यचिन्तयत्—'यदि राज्यलक्ष्मीर्भोजकुमारं गमिष्यति, तदाहं जीवन्नपि मृतः।

इसके उपरांत ब्राह्मण को भेजकर राजा रात में शैय्या पर बैठकर अकेला विचार करने लगा—"यदि राजलक्ष्मी राजकुमार भोज को मिल जायेगी तो मैं तो जीते जी मरा।

तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः क्षणेन
सोऽप्यन्य एव भवतीति विचित्रमेतत्॥ ७॥

वे ही अविकल इंद्रियाँ रहती हैं, वही नाम रहता है; अकुंठित बुद्धि भी वही रहती है और वचन भी वही। किंतु कैसी अनोखी बात है कि केवल धन की ऊष्मा (गर्मी) से वियुक्त वही मनुष्य क्षण भर में दूसरा ही हो जाता है।

---

(१) विगता छाया निच्छायम्, "कुगतिप्रादयः" इत्यनेन समासः। "विभाषा सेनासुराच्छाया०" इत्यनेन नपुंसकत्वम्। तादृक् वदनं यस्य स इति यावत्।

किञ्च--शरीरनिरपेक्षस्य दक्षस्य व्यवसायिनः ।
बुद्धिप्रारब्धकार्यस्य नास्ति किञ्चन दुष्करम् ॥ ८ ॥
असू (१)यया हतेनैव पूर्वोपायोद्यमैरपि ।
कर्तृणां गृह्यते सम्पत्सुहृद्भिर्मन्त्रिभिस्तथा ॥ ९ ॥

किंतु शरीर की चिंता न करनेवाले, चतुर, अध्यवसायी और बुद्धि से कार्य करनेवाले मनुष्य के लिए कुछ भी कर डालना कठिन नहीं है । गुणों में दोष का आविष्कार करने की प्रवृत्ति के कारण पहिले से ही युक्ति और उद्योग पूर्वक करनेवाले पुरुषों का कार्य मित्रों और मंत्रियों द्वारा मान्य ही होता है ।

तत्रोद्यमे किं दुःसाध्यम् ।
अतिदाक्षिण्ययुक्तानां शङ्कितानां पदे पदे ।
परापवादभीरूणां दूरतो यान्ति सम्पदः ॥ १० ॥

सो उद्योग करने पर कठिन क्या है ? अत्यंत चतुर किंतु पग-पग पर शंका करनेवाले और दूसरों के द्वारा की गई निंदा से डरनेवाले मनुष्यों की संपदाएँ दूर से ही चली जाती हैं ।

किञ्च--आदानस्य प्रदानस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः ।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति सम्पदः ॥ ११ ॥
अवमानं पुरस्कृत्य मानं कृत्वा च पृष्ठतः ।
स्वार्थं समुद्धरेत्प्राज्ञः स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता ॥ १२ ॥
न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मतिमान्नरः ।
एतदेवातिपाण्डित्यं यत्स्वल्पाद्भूरिरक्षणम् ॥ १३ ॥
जातमात्रं न यः शत्रुं व्याधिं वा प्रशमं नयेत् ।
अतिपुष्टाङ्गयुक्तोऽपि स पश्चात्तेन हन्यते ॥ १४ ॥
प्रज्ञागुप्तशरीरस्य किं करिष्यन्ति संहताः ।
हस्तन्यस्तातपत्रस्य वारिधारा इवारयः ॥ १५ ॥
अफलानि दुरन्तानि समव्ययफलानि च ।
अशक्यानि च वस्तूनि नारभेत विचक्षणः' ॥ १६ ॥

---

(१) असूया--गुणेषु दोषाविष्करणम् ।

अधिक क्या—लेने और देने के तथा करने योग्य कार्य को शीघ्रता पूर्वक न करनेवाले मनुष्य की संपत्ति को काल नष्ट कर डालता है। बुद्धिमान् मनुष्य अवमानना का ग्रहण कर तथा मान की चिंता न करके स्वार्थ-सिद्धि करे; क्योंकि स्वार्थ में चूकना मूर्खता है। बुद्धिमान् थोड़े के लिए अधिक को न गँवादे। थोड़े के मूल्य पर अधिक की रक्षा करलेना ही बड़ी पंडिताई है। जो मनुष्य शत्रु अथवा रोग को उत्पन्न होते ही नष्ट नहीं कर देता, वह अत्यंत पुष्ट अंगों वाला होकर भी बाद में शत्रु अथवा रोग से मारा जाता है। जिस प्रकार हाथ में छाता धारण करनेवाले मनुष्य का जलधाराएँ कुछ नहीं कर सकतीं, उसी प्रकार बुद्धि द्वारा शरीर-रक्षा करनेवाले मनुष्य का संगठित शत्रु भी कुछ नहीं कर सकते।

निष्फल, कष्टसाध्य, जिनमें हानि-लाभ समान हो और जो न हो सके, ऐसे कार्य का आरंभ बुद्धिमान् को नहीं करना चाहिए।

ततश्चैवं विचिन्तयन्नभुक्त एव दिनस्य तृतीये याम एक एव मन्त्रयित्वा वङ्गदेशाधीश्वरस्य महाबलस्य वत्सराजस्या(१) कारणाय स्वमङ्गरक्षकं प्राहिणोत्। स चाङ्गरक्षको वत्सराजमुपेत्य प्राह - 'राजा त्वामाकारयति' इति। ततः स रथमारुह्य परिवारेण परिवृतः समागतो रथादवतीर्य राजानमवलोक्य प्रणिपत्योपविष्टः।

फिर इसी प्रकार सोचते हुए बिना कुछ खाये-पिये राजा ने अकेले ही मंत्रणा करके दिन के तीसरे पहर में वंगदेश के अधीश्वर महाबली वत्सराज को बुलाने के लिए अपने अंग रक्षक को भेजा। वत्सराज के निकट पहुँच कर वह अंगरक्षक बोला—'राजा आपको बुलाता है।' सो वह परिवार सहित रथ पर चढ़ कर आ पहुँचा और रथ से उतर राजा को देख प्रणिपात करके बैठ गया।

राजा च सौधं निर्जनं (२) विधाय वत्सराजं प्राह—

'राजा तुष्टोऽपि भृत्यानां मानमात्रं प्रयच्छति।
ते तु सम्मानितास्तस्य प्राणैरप्युपकुर्वते॥ १७॥

ततस्त्वया भोजो भुवनेश्वरीविपिने हन्तव्यः प्रथमयामे निशायाः।

---

(१) आह्वानायेति यावत्। (२) जनरहितम्।

शिरश्चान्ते पुरमानेतव्यम्' इति ।

राजा महल को निर्जन करा के वत्सराज से बोला—''प्रसन्न होकर भी राजा अपने सेवकों को केवल मान देता है, किंतु संमानित सेवक तो अपने प्राण देकर भी उसका उपकार करते हैं।

सो तुम्हें उचित है कि तुम भोज को रात के पहिले पहर में भुवनेश्वरी-वन में मार डालो और उसका सिर अंतःपुर में ले आओ।''

स चोत्थाय नृपं नत्वाऽऽह—'देवादेशः प्रमाणम् । तथापि भवल्लालनात्किमपि वक्तुकामोऽस्मि । ततः सापराधमपि मे वचः क्षन्तव्यम् ।

भोजे द्रव्यं न सेना वा परिवारो बलान्वितः ।
परं पोत इवास्तेऽद्य स हन्तव्यः कथं प्रभो ॥ १८ ॥
पारम्पर्य इवासक्तस्त्वत्पाद उदरम्भरिः ।
तद्वधे कारणं नैव पश्यामि नृपपुङ्गव' ॥ १९ ॥

उसने खड़े होकर राजा के संमुख विनत होकर कहा—'महाराज की आज्ञा शिरोधार्य है, तो भी आपके लाड़-प्यार के आधार पर कुछ निवेदन करने की इच्छा करता हूँ। सो अपराध युक्त होने पर भी मेरे निवेदन को क्षमा करें।

भोज के पास न धन है, न सेना है, न बलयुक्त परिवार है। वह तो आपका बिलकुल बालक जैसा है। सो हे स्वामी, उसका मारा जाना क्यों उचित है? वह तो अशक्त जैसा है और आपके चरणों में आसक्त रहकर अपना पेट पालता है। सो हे नृपश्रेष्ठ, उसके वध में कोई कारण तो नहीं दीखता।

ततो राजा सर्वं प्रातः सभायां प्रवृत्तं वृत्तमकथयत् । स च श्रुत्वा हसन्नाह—

'त्रैलोक्यनाथो रामोऽस्ति वसिष्ठो ब्रह्मपुत्रकः ।
तेन राज्याभिषेके तु मुहूर्तः कथितोऽभवत् ॥ २० ॥
तन्मुहूर्तेन रामोऽपि वनं नीतोऽवनीं विना ।
सीतापहारोऽप्यभवद्वैरिञ्चिवचनं वृथा ॥ २१ ॥
जातः कोऽयं नृपश्रेष्ठ किञ्चिज्ज्ञ उदरम्भरिः ।
यदुक्त्या मन्मथाकारं कुमारं हन्तुमिच्छसि ॥ २२ ॥

तब राजाने प्रातःकाल सभा में घटित सब वृत्तांतों को कह सुनाया। सुनकर हँसता हुआ वह (वंगराज) कहने लगा—

राम तीनों लोकों के राजा थे और वसिष्ठ ब्रह्मपुत्र। उन्होंने राम-राज्याभिषेक के अवसर पर मुहूर्त तो बताया ही था।

उस मुहूर्त-शोधन के फलस्वरूप राम भी अपनी धरती से रहित हो वन पहुँचे, सीता का अपहरण हुआ और विरंचि (ब्रह्मा) के पुत्र का वचन व्यर्थ हुआ। हे राजश्रेष्ठ, यह कौन न कुछ जाननेवाला, पेटपालू उत्पन्न हो गया, जिसके कहने से कामदेव के समान कुमार को आप मार डालना चाहते हैं?

किञ्च—किं नु मे स्यादिदं कृत्वा किं नु मे स्यादकुर्वतः।
इति सञ्चिन्त्य मनसा प्राज्ञः कुर्वीत वा न वा ॥ २३ ॥

उचितमनुचितं वा कुर्वता कार्यजातं
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते—
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥ २४ ॥

अधिक क्या कहूँ—यह करके मेरा क्या होगा और न करके क्या होगा, यह भली भाँति विचार करके बुद्धिमान् नर को करना अथवा न करना उचित है। उचित अथवा अनुचित किसी कार्य को करते समय पंडित मनुष्य को प्रयत्न पूर्वक उसके परिणाम का विचार कर लेना चाहिए। जो कार्य अत्यंत शीघ्रता में कर लिये जाते हैं, उनका फल विपत्तियों से परिपूर्ण और बाण के समान हृदय में गड़ कर दाह उत्पन्न करनेवाला होता है।

किञ्च—येन सहासितमशितं हसितं कथितं च रहसि विश्रब्धम्।
तं प्रति कथमसतामपि निवर्तते चित्तमामरणात् ॥ २५ ॥

और क्या कहूँ—जिसके साथ बैठे, खाया-पिया, हँसी-दिल्लगी की, एकांत में विश्वासपूर्वक कहा-सुना, उससे तो दुष्टों का भी मन मरण पर्यंत किसी दशा में नहीं हट पाता।

किञ्च—अस्मिन् हते वृद्धस्य राज्ञः सिन्धुलस्य परमप्रीतिपात्राणि महावीरास्तवैवानुमते स्थिताः, ते त्वन्नगरमुल्लोलकल्लोलाः पयोधरा इव स्रावयिष्यन्ति। चिराद्बद्धमूलेऽपि त्वयि प्रायः पौरा भोजं भुवो भर्तारं भावयन्ति।

किञ्च—सत्यपि च सुकृतकर्मणि दुर्नीतिश्चेच्छ्रियं हरत्येव।

तैलैः सदोपयुक्तां दीपशिखां विदलयति हि (१) वातालिः ॥२६॥

देव, पुत्रवधः कापि न हिताय।'

और भी है कि इसके मारे जाने पर बूढ़े राजा सिंधुल के अत्यंत प्रेमपात्र वे महान् वीरगण, जो इस समय आपके आज्ञापालक हैं, आपके नगर का वैसे ही नाश कर देंगे, जैसे कि ऊँची-ऊँची तरङ्गोंवाले समुद्र नगर को डुवा डालते हैं। बहुत समय से आपकी जड़ जम जाने पर भी नगरवासियों का अधिकांश भोज को ही राजा मानता है। इसके अतिरिक्त पुण्यकर्म होने पर भी अन्याय संपत्ति का हरण करता ही है; तेल से पूर्ण दिए की लौ को प्रवल वायु बुझा देती है।

महाराज, पुत्र का वध किसी के लिए भला नहीं होता।'

इत्युक्तं वत्सराजवचनमाकर्ण्य राजा कुपितः प्राह—'त्वमेव राज्याधिपतिः, न तु सेवकः।

स्वाम्युक्ते यो न यतते स भृत्यो (२) भृत्यपाशकः।
तज्जीवनमपि व्यर्थमजागलकुचाविव' ॥ २७ ॥

इति। ततो वत्सराजः 'कालोचितमालोचनीयम्' इति मत्वा तूष्णीं वभूव।

वत्सराज के इन वचनों को सुनकर क्रुद्ध होकर राजा बोला—'तू राज्य का स्वामी ही है, सेवक नहीं।

जो स्वामी का कहा नहीं करता, वह सेवक नीच सेवक है। बकरी के गले के स्तनों की भाँति उसका जीवन भी व्यर्थ है।''

'समय के अनुसार ही कार्य करना चाहिए,' यह विचार कर वत्सराज चुप होगया।

अथ लम्बमाने दिवाकर उत्तुङ्गसौधोत्सङ्गादवतरन्तं कुपितमिव कृतान्तं वत्सराजं वीक्ष्य समेता अपि विविधेन मिषेण स्वभवनानि प्र पुर्भीताः सभासदः। ततः स्वसेवकान् स्वागारपरित्राणार्थं प्रेषयित्वा रथं भुवनेश्वरीभवनाभिमुखं विधाय भोजकुमारोपाध्यायाकारणाय प्राहिणोदेकं वत्सराजः। स चाह पण्डितम्—'तात' त्वामाकारयति वत्सराज' इति। सोऽपि तदाकर्ण्य वज्राहत इव, भूताविष्ट इव, ग्रहग्रस्त इव, तेन सेवकेन

(१) पवनसमुदायः। (२) कुत्सितभृत्य इत्यर्थः।

करेण धृत्वानीतः पण्डितः।

इसके उपरांत सूर्य के अस्तमित होने पर ऊँचे महल से उतरते क्रुद्ध यमराज की भाँति वत्सराज को देखकर डरे हुए सभी सभासद अनेक प्रकार के बहाने बनाकर अपने-अपने घरों को चले गये। फिर अपने सेवकों को अपने आवास की रक्षा के लिए भेजकर, रथ को भुवनेश्वरी के मंदिर की ओर करके कुमार भोज के उपाध्याय को बुलाने के निमित्त एक सेवक को वत्सराज ने भेजा। वह पंडित से बोला—'तात, आपको वत्सराज बुलाते हैं।' यह सुनकर वज्र से मारे हुए जैसे, भूत से ग्रस्त जैसे, ग्रहगृहीत जैसे उस पंडित को सेवक हाथ पकड़ कर ले आया।

तं च बुद्धिमान् वत्सराजः सप्रणाममित्याह—'पण्डित, तात, उपविश। राजकुमारं जयन्तमध्ययनशालाया आनय' इति। आयान्तं जयन्तं कुमारं किमप्यधीतं पृष्ट्वानैषीत्। पुनः प्राह पण्डितम्—'विप्र, भोजकुमारमानय' इति। ततो विदितवृत्तान्तो भोजः कुपितो ज्वलन्निव शोणितेक्षणः समेत्याह—'आः पाप, राज्ञो मुख्यकुमारमेकाकिनं मां राजभवनाद् बहिरानेतुं तव का नाम शक्तिः' इति वामचरणपादुकामादाय भोजेन तालुदेशे हतो वत्सराजः। ततो वत्सराजः प्राह—'भोज, वयं, राजादेशकारिणः।' इति बालं रथे निवेश्य खड्गमपकोशं कृत्वा जगामाशु महामायाभवनम्।

बुद्धिमान् वत्सराज प्रणाम करके उससे बोला—'पंडितजी महाराज, विराजिए। राजकुमार जयंत को पाठशाला से ले आइए।' उसने आये कुमार जयंत से कुछ पढ़ा-लिखा पूछ कर उसे वापस भेज दिया। फिर पंडित से कहा—'हे ब्राह्मण, भोजकुमार को लाओ।' तत्पश्चात् समाचार जान कर क्रोध से जलता हुआ, लाल-लाल आँखे किये भोज आकर बोला—'अरे पापी, मुञ्ज राज के मुख्य कुमार को अकेले राजभवन से बाहर ले जाने की तेरी क्या शक्ति है?' ऐसा कह बायें पैर से खड़ाऊँ निकाल कर भोज ने वत्सराज के तालुभाग पर प्रहार किया। तब वत्सराज ने कहा—भोज! हम तो राजाज्ञा के पालक हैं।' ऐसा कह बालक (भोज) को रथ में बैठा कर तलवार म्यान से बाहर निकाले शीघ्रतापूर्वक महामाया के मंदिर की ओर चल पड़ा।

ततो गृहीते भोजे लोकाः कोलाहलं चक्रुः। हुम्भावश्च प्रवृत्तः। 'किं किम्' इति ब्रुवाणा भटा विक्रोशन्त आगत्य सहसा भोजं वधाय नीतं ज्ञात्वा हस्तिशालामुष्ट्रशालां वाजिशालां रथशालां प्रविश्य सर्वाञ्जघ्नुः। ततः प्रतोलीषु राजभवनप्राकारवेदिकासु बहिर्द्वारविटङ्केषु पुरसमीपेषु भेरीपटहमुरजमड्डुकडिण्डिमानन्दाडम्बरं विडम्बितमभूत्। केचिद्गिमलासिना केचिद्विषेण केचित्कुन्तेन केचित्पाशेन केचिद्वह्निना केचित्परशुना केचिद्भल्लेन केचित्तोमरेण केचित्प्रासेन केचिदम्भसा केचिद्धारायां ब्राह्मणयोषितो राजपुत्रा राजसेवका राजानः पौरांश्च प्राणपरित्यागं दधुः।

तदनंतर भोज के पकड़ कर ले जाये जाने पर लोग कोलाहल करने लगे। हुङ्कार होने लगा। 'क्या हुआ, क्या हुआ' ऐसा कहते चिल्लाते हुए योद्धाओं ने आकर, अकस्मात् भोज को वध के निमित्त लेजाया गया जानकर, हस्तिशाला, उष्ट्रशाला, अश्वशाला, रथशाला में घुस कर सब को मार डाला। तत्पश्चात् गलियों में, राजमहल के प्राचीर की वेदियों पर, वाहरी द्वारों के चबूतरों पर, नगर के निकट स्थानों पर नगाड़ों, ढोलकियों, मृदङ्गों, ढोलों और दौड़ियों के तीव्र घोप से आकाश गूँज उठा। ब्राह्मणों की स्त्रियों, राजपुत्रों. राजसेवकों, राजाओं और पुरजनों ने—कुछ ने चमकती तलवार से, कुछ ने विप के द्वारा, कुछ ने भाले से, कुछ ने रस्सी में फाँसी लगा, कुछ ने आग में जल, कुछ ने फरसे द्वारा, कुछ ने वरछी से, कुछ ने तोमर द्वारा, कुछ ने खाँड़े से, कुछ ने कुएँ और कुछ ने नदी में डूबकर—प्राणों का त्याग कर दिया।

ततः सावित्रीसंज्ञा भोजस्य जननी विश्वजननीव स्थिता दासीमुखात्स्वपुत्रस्थितिमाकर्ण्य कराभ्यां नेत्रे पिधाय रुदती प्राह—'पुत्र, पितृव्येन कां दशां गमितोऽसि। ये मया नियमा उपवासाश्च त्वत्कृते कृताः, तेऽद्य मे विफला जाताः। दशापि दिशामुखानि शून्यानि। पुत्र, देवेन सर्वज्ञेन सर्वशक्तिनासृष्टाः श्रियः। पुत्र, एनं दासीवर्गं सहसा विच्छिन्नशिरसं पश्य' इत्युक्त्वा भूमावपतत्।

तदनंतर संसार की माता के समान स्थित सावित्री नाम की भोज की माता दासी के मुख से अपने पुत्र की दशा सुनकर हाथों से नेत्रों को ढक कर रोती हुई कहने लगी—'पुत्र, चाचा ने तुम्हें किस दशा को पहुँचा दिया।

तुम्हारे निमित्त जो नियम और उपवास मैंने किये, वे सब निष्फल हो गये। दसों दिशामुख सूने हैं। पुत्र, सब जानने वाले, सर्वशक्तिमान् ईश्वर ने सब संपत्ति नष्ट कर दी। बेटे' सहसा सिर कटे हुए इस दासियों के समूह को देखो,'—ऐसा कह कर वह धरती पर गिर पड़ी।

ततः प्रदीप्ते वैश्वानरे समुद्भूतधूमस्तोमेनैव मलीमसे नभसि पापत्रासादिव पश्चिमपयोनिधौ मग्ने मार्तण्डमण्डले महामायाभवनमासाद्य प्राह भोजं वत्सराजः—'कुमार, भृत्यानां दैवत, ज्योतिःशास्त्रविशारदेन केनचिद् ब्राह्मणेन तव राज्यप्राप्तावुदीरितायां राज्ञा भवद्वधो व्या (१) दिष्टः' इति।

तत्पश्चात् आग जलने से उत्पन्न धुएँ की धुंध से आकाश के मलिन हो जाने पर, पाप के डर से जैसे सूर्यमंडल के पश्चिम समुद्र में डूब जाने पर महामाया के मंदिर में पहुँच कर वत्सराज भोज से बोला—'कुमार, सेवकों के देवता, ज्योतिष विद्या में निपुण किसी ब्राह्मण के द्वारा आपकी राज्य-प्राप्ति की घोषणा की जाने पर राजाने आपके वध की आज्ञा दी है।'

भोजः प्राह—

'रामे प्रव्रजनं बलेर्नियमनं पाण्डोः सुतानां वनं
वृष्णीनां निधनं नलस्य नृपते राज्यात्परिभ्रंशनम्।
कारागारनिषेवणं च वरणं सञ्चिन्त्य लङ्केश्वरे
सर्वः कालवशेन नश्यति नरः को वा परित्रायते॥ २८॥

भोज ने कहा—राम का देश से निर्वासन, बलि का बंधन, पांडुपुत्रों का वनवास, यादवों की मृत्यु, राजा नल का राज्य से हट जाना, बंदीगृह में निवास ('कारागार' के स्थान में 'पाकागार' भी प्राप्त होता है—अर्थ, रसोइये का कार्य करना) और पुनः स्वयंवर में दमयंती की प्राप्ति, ('वरणं' के स्थान में 'मरणं' भी है—अर्थ मृत्यु अर्थात् लंका के राजा रावण की मृत्यु) और लंकाधीश रावण की मृत्यु विचार कर निश्चय होता है कि प्रत्येक मनुष्य काल के वश होकर नाश को प्राप्त होता है, कौन त्राण पाता है?

(१) उक्त इत्यर्थः।

लक्ष्मीकौस्तुभपारिजातसहजः सूनुः सुधाम्भोनिधे-
र्देवेन प्रणयप्रसादविधिना मूर्ध्ना धृतः शम्भुना ।
अद्याप्युज्झति नैव दैवविहितं क्षैण्यं (१) क्षपावल्लभः
केनान्येन विलङ्घ्यते विधिगतिः पाषाणरेखासखी ॥ २९ ॥

लक्ष्मी, कौस्तुभमणि और कल्पवृक्ष के साथ उत्पन्न, अमृत-समुद्र का पुत्र, महादेव शिव के द्वारा प्रेम और प्रसन्नता प्रकट करने की रीति से मस्तक पर स्थापित, रात्रि का प्रियतम चंद्रमा भाग्य के द्वारा निर्दिष्ट क्षीण होने की क्रिया को आज भी नहीं छोड़ पाता। पत्थर पर खिची लकीर के समान अमिट विधाता की गति का उल्लंघन और किसके द्वारा हो सकता है ?

विकटोव्यामप्यटनं शैलारोहणमपान्निधेस्तरणम् ।
निगडं गुहाप्रवेशो विधिपरिपाकः कथं नु सन्तार्यः ॥ ३० ॥

विधाता के द्वारा निर्दिष्ट होने पर विकट भूमि पर मारे-मारे फिरना, पर्वत पर चढ़ना, समुद्र में तैरना, बेड़ी में जकड़ा जाना, गुफा में रहना— इन सब से कैसे निस्तार पाया जा सकता है ?

अम्भोधिः स्थलतां स्थलं जलधितां धूलीलवः शैलतां
मेरुर्मृत्कणतां तृणं कुलिशतां वज्रं तृणप्रायताम् ।
वह्निः शीतलतां हिमं दहनतामायाति यस्येच्छया
लीलादुर्ललिताद्भुतव्यसनिने देवाय तस्मै नमः' ॥ ३१ ॥

जिस देव की इच्छा से समुद्र सूखी धरती, स्थली समुद्र, धूलिकण पर्वत, सुमेरु मिट्टी का कण, तिनका वज्र और वज्र तिनका बन जाता है; आग शीतल हो जाती है और बर्फ आग बन जाता है, लीला मात्र से दुष्कर किंतु सुंदर और अद्भुत कर्म करने के व्यसनी उस देवता को नमस्कार है ।

ततो वटवृक्षस्य पत्र आदायैकं पुटीकृत्य जङ्घां छुरिकया छित्त्वा तत्र पुटके रक्तमारोप्य तृणेनैकस्मिन्पत्रे कञ्चन श्लोकं लिखित्वा वत्सं प्राह—'महाभाग, एतत्पत्रं नृपाय दातव्यम् । त्वमपि राजाज्ञां विधेहि' इति ।

यह कहने के पश्चात् भोज ने वटवृक्ष के दो पत्ते लेकर एक का दोना

(१) चन्द्रमाः इति यावत् ।

बनाया और जंघा में छूरी से काट कर रक्त निकाला और, उस दोनों में रखा और तिनके से दूसरे पत्ते पर रक्त से एक श्लोक लिख कर वत्स से कहा—'महाभाग, इस पत्र को राजा को दे देना। और राजाज्ञा का पालन करो।

ततो वत्सराजस्यानुजो भ्राता भोजस्य प्राणपरित्यागसमये दीप्यमानमुखश्रियमवलोक्य प्राह—

'एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति॥ ३२॥
न ततो हि सहायार्थे माता भार्या च तिष्ठति।
न पुत्रमित्रौ न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥ ३३॥
बलवानप्यशक्तोऽसौ धनवानपि निर्धनः।
श्रुतवानपि मूर्खश्च यो धर्मविमुखो जनः॥ ३४॥
इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः।
गत्वा निरौषधस्थानं स रोगी किं करिष्यति॥ ३५॥
जरां मृत्युं भयं व्याधिं यो जानाति स पण्डितः।
स्वस्थस्तिष्ठेन्निषीदेद्वा स्वपेद्वा केनचिद्धसेत्॥ ३६॥
तुल्यजातिवयोरूपान् हृतान् पश्यति मृत्युना।
नहि तत्रास्ति ते त्रासो वज्रवद्धृदयं तव'॥ ३७॥ इति।

इसके बाद प्राणत्यागने का समय उपस्थित होने पर भोज के देदीप्यमान मुख की शोभा को देखकर वत्सराज का छोटा भाई बोला—

धर्म ही एक मित्र है, जो मरजाने पर भी अनुगमन करता है; और सब तो शरीर के विनाश के साथ ही नाश को प्राप्त हो जाता है।

उस समय सहायता के निमित्त न माता ठहरती है, न पत्नी, न पुत्र, न मित्र; न कोई नातेदार; केवल धर्म ही ठहरता है।

जो मनुष्य धर्म से विमुख है, वह बलवान् होने पर भी शक्तिहीन है; धनी होने पर भी निर्धन है और शास्त्रज्ञ होने पर भी मूर्ख है।

जो इस लोक में ही नरक के रोग (पाप) की चिकित्सा नहीं करता, औषधहीन स्थान (परलोक) में पहुँच कर वह रोगी क्या करेगा?

जो बुढ़ापा, मृत्यु, भय और रोग को जानता है, वह पंडित है। वह

चाहे स्वस्थ रहे, चाहे पड़ा रहे; चाहे सोता रहे, चाहे किसी के साथ हँसी करता रहे।

(हे भाई,) तुम जाति, आयु और रूप में अपने समान व्यक्तियों को मृत्यु द्वारा अपहृत होते देखते हो और तुम को डर नहीं लगता। तो तुम्हारा हृदय तो वज्र तुल्य है।

ततो वैराग्यमापन्नो वत्सराजो भोजं 'क्षमस्व' इत्युक्त्वा प्रणम्य तं च रथे निवेश्य नगराद् बहिर्घने तमसि गृहमागमय्य भूमिगृहान्तरे निक्षिप्य भोजं ररक्ष। स्वयमेव कृत्रिमविद्याविद्भिः सुकुण्डलं स्फुरद्वक्त्रं निमीलितनेत्रं भोजकुमारमस्तकं कारयित्वा तच्चादाय कनिष्ठो राजभवनं गत्वा राजानं नत्वा प्राह—'श्रीमता यदादिष्टं तत्साधितम्' इति।

तदनंतर वैराग्य को प्राप्त हुए वत्सराज ने 'क्षमा करो—ऐसा' भोज से कहा और उसे प्रणाम करके रथ में बैठाया और नगर से बाहर घोर अंधकार में (बने) घर में लेजाकर भूमि के नीचे बने स्थान (तहखाना) में छिपाकर रखा और भोज की रक्षा की। स्वयम् ही उसने नकली कृत्रिम वस्तु बनाने की विद्या को जानने वाले लोगों से सुंदर कुंडलों को धारण किये, कांतिपूर्ण मुख से युक्त, बंद आँखों वाले भोज कुमार के मस्तक को बनवाया और उसका छोटा भाई उसे राजमहल में लेजाकर राजा से प्रणाम करके बोला—'श्रीमान् ने जो आज्ञा दी थी, उसका पालन हो गया।'

ततो राजा च पुत्रवधं ज्ञात्वा तमाह—'वत्सराज, खड्गप्रहारसमये तेन पुत्रेण किमुक्तम्' इति। वत्सस्तत्पत्रमदात्। राजा स्वभासोकरेण दीपमानीय तानि पत्राक्षराणि वाचयति—

'मान्धाता च महीपतिः कृतयुगालङ्कारभूतो गतः
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः।
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवं भूपते
नैकेनापि समं गता वसुमती मुञ्ज त्वया यास्यति'॥ ५८॥

राजा च तदर्थं ज्ञात्वा शय्यातो भूमौ पपात।

तब कुमार का वध हुआ जानकर राजा ने उससे कहा—'वत्सराज, खड्ग-प्रहार के समय उस पुत्र ने कुछ कहा?' वत्स ने वह पत्र दे दिया।

राजा अपनी पत्नी के हाथ से दीपक लेकर पत्र में लिखे उन अक्षरों को बाँचने लगा—सतयुग का अलंकारस्वरूप धरती का स्वामी मांधाता चला गया; जिसने महान् समुद्र पर पुल बना दिया, वह दशानन रावण का अंत करनेवाला (राम) भी कहाँ है ? हे धरती के मालिक, अन्य जो युधिष्ठिर आदि थे, वे भी द्युलोक गये; यह धनधान्यपूर्ण वसुंधरा धरती किसी के साथ न गयी; हे मुंज, तेरे साथ जायगी।

राजा उसके अर्थ को समझकर शय्या से धरती पर गिर पड़ा।

ततश्च देवीकरकमलचालितचेलाञ्चलानिलेन ससंज्ञो भूत्वा 'देवि, मा मां स्पृश हा हा पुत्र घातिनम्' इति विलपन्कुरर इव द्वारपालानानाय्य 'ब्राह्मणानानयत' इत्याह। ततः स्वाज्ञया समागतान् ब्राह्मणान्नत्वा मया 'पुत्रो हतः, तस्य प्रायश्चित्तं वदध्वम्' इति वदन्तं ते तमूचुः— 'राजन्, सहसा वह्निमाविश' इति।

तत्पश्चात् महारानी के कर कमलों द्वारा डुलाये जाते साड़ी के आँचल से उत्पन्न वायु से चैतन्य पाकर राजाने 'देवि, मुझ पुत्र के हत्यारे का स्पर्श मत करो'—इस प्रकार कुरर पक्षी की भाँति' विलाप करते हुए द्वारपालों को बुलवा कर कहा कि ब्राह्मणों को ले आओ। तत्पश्चात् अपनी आज्ञा से आये ब्राह्मणों को प्रणाम करके बोला कि मैंने पुत्र की हत्या की है, उसका प्रायश्चित्त बताओ। ऐसा कहते उससे ब्राह्मण बोले—'राजन्, तुरंत आग में प्रवेश करो।'

ततः समेत्य बुद्धिसागरः प्राह—'यथा त्वं राजाधमः, तथैवामात्याधमो वत्सराजः। तव किल राज्यं दत्त्वा सिन्धुलनृपेण तेन त्वदुत्सङ्गे भोजः स्थापितः। तच्च त्वया पितृव्येणान्यत्कृतम्।

कतिपयदिवसस्थायिनि मदकारिणि यौवने दुरात्मानः।
विदधति तथापराधं जन्मैव यथा वृथा भवति ॥ ३९ ॥
सन्तस्तृणोत्सारणमुत्तमाङ्गात्सुवर्णकोट्यर्पणमामनन्ति।
प्राणव्ययेनापि कृतोपकाराः खलाः परे वैरमिवोद्वहन्ति ॥४०॥
उपकारश्चापकारो यस्य व्रजति विस्मृतिम्।
पापाणहृदयस्यास्य जीवतीत्यभिधा मुधा ॥ ४१ ॥

यथाङ्कुरः सुसूक्ष्मोऽपि प्रयत्नेनाभिरक्षितः ।
फलप्रदो भवेत्काले तथा लोकः सुरक्षितः ॥ ४२ ॥
हिरण्यधान्यरत्नानि धनानि विविधानि च ।
तथान्यदपि यत्किञ्चित्प्रजाभ्यः स्युर्महीभृताम् ॥ ४३॥
राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापपराः सदा ।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः' ॥ ४४ ॥

तब बुद्धि सागर आकर बोला—'जैसा तू नीच राजा है, वैसा ही नीच मंत्री वत्सराज है। तुझे राज्य देकर उस सिंधुल राजा ने भोज को तेरी गोद में स्थापित किया था और तुझ चाचा ने उसका उलटा कर दिया।

दुरात्मा व्यक्ति थोड़े से दिन ठहरनेवाली, मद उत्पन्न करनेवाली जवानी में ऐसा अपराध कर बैठते हैं कि उससे जन्म ही व्यर्थ हो जाता हैं।

सज्जन सिर से तिनका हटा देने को भी सोने की मुहरों का अर्पण मानते है और दुर्जन प्राण देकर उपकार करनेवाले के साथ भी वैर ही निवाहते हैं।

जो उपकार अथवा अपकार को भूल जाता है, उस पत्थर जैसे कठोर व्यक्ति को यह प्रतीति कि 'वह जी रहा है,' व्यर्थ है।

जैसे प्रयत्नपूर्वक रखाया गया अत्यंत छोटा अंकुर भी—यथा समय फल देनेवाला हो जाता है, वैसे ही सुरक्षित व्यक्ति भी।

स्वर्ण, अन्न, रत्न और भाँति-भाँति के धन तथा और जो कुछ भी है, वह सब राजाओं को प्रजा से ही प्राप्त होता है।

(प्रजाजन) राजा के धर्मात्मा होने पर धर्मात्मा तथा पापी होने पर पापी होते हैं; प्रजा राजा का ही अनुकरण करती है। जैसा राजा, वैसी प्रजा।'

ततो रात्रावेव वह्निप्रवेशनं निश्चिते राज्ञि सर्वे (१) सामन्ताः पौराश्च मिलिताः। 'पुत्रं हत्वा पापभयाद्भीतो नृपतिर्वह्निं प्रविशति' इति (२) किंवदन्ती सर्वत्राजनि। ततो बुद्धिसागरो द्वारपालमाहूय 'न केनापि भूपालभवनं प्रवेष्टव्यम्' इत्युक्त्वा नृपमन्तःपुरे निवेश्य सभायामेकाकी सन्नुपविष्टः। ततो राजमरणवार्तां श्रुत्वा वत्सराजः सभागृहमागत्य बुद्धिसागरं नत्वा शनैः प्राह—'तात, मया भोजराजो

(१) समन्ताद्भवाः सामन्ताः। (२) लोकप्रवादः।

रक्षितः' इति। बुद्धिसागरश्च कर्णे तस्य किमप्यकथयत्। तच्छ्रुत्वा वत्सराजश्च निष्क्रान्तः।

तत्पश्चात् रात में ही राजा का अग्नि प्रवेश निश्चित हो जाने पर सब सरदार और नगरवासी एकत्र हो गये। 'पुत्र की हत्या करके पाप से डरा राजा अग्नि में प्रवेश कर रहा है,'--यह अफवाह सब जगह फैल गयी। तब बुद्धिसागर ने द्वारपाल को बुलाकर कहा कि 'कोई राजभवन में न घुसपाये,' और यह कह कर राजा को रनिवास में प्रविष्ट कराके स्वयम् अकेला सभागृह में आ बैठा।' तदनंतर राजा की मृत्यु से संबद्ध समाचार सुनकर वत्सराज सभागृह में पहुँच कर बुद्धिसागर को प्रणाम करके धीरे से बोला--'तात, मैंने भोजराज को बचा लिया है।' बुद्धिसागर ने उसके कान में कुछ कहा। वह सुनकर वत्सराज चला गया।

ततो मुहूर्तेन कोऽपि करकलितदन्तीन्द्रदन्तदण्डो विरचितग्रथ्यग्र-जटाकलापः कर्पूरकरम्बितभसितोद्धर्तितसकलतनुर्मूर्तिमान्मन्मथ इव स्फटिककुण्डलमण्डितकर्णयुगलः कौशेयकौपीनो मूर्तिमांश्चन्द्रचूड इव सभां कापालिकः समागतः। तं वीक्ष्य बुद्धिसागरः प्राह—'योगीन्द्र, कुत आगम्यते। कुत्र ते निवेशश्च। कापालिके त्वयि यच्चमत्कारकारी कला-विशेष औषधविशेषोऽप्यस्ति।'

तदनतर दो घड़ी बाद गजराज के दाँत के दंड से हाथ को सुशोभित किये, सामने जटाओं का जूड़ा बाँधे, संपूर्ण देह पर कपूर मिली भस्म रमाये साक्षात् कामदेव के समान प्रतीत होता, स्फटिक के कुंडलों से कान अलंकृत किये, रेशमी कौपीन बाँधे, चूडा में चंद्रधारण करनेवाले साक्षात् महादेव के समान एक कापालिक योगी सभा मे आया। उसे देखकर बुद्धिसागर ने पूछा--'योगिराज, कहाँ से आना हुआ है और आपका निवासस्थान कहाँ है? कपाली योगी आपके पास कोई चमत्कारी विशेष कला अथवा कोई विशेष औषध भी है?'

योगी प्राह—

देशे देशे भवनं भवने भवने तथैव भिक्षान्नम्।
सरसि च नद्यां सलिलं शिव शिव तत्त्वार्थयोगिनां पुंसाम्॥४५॥

ग्रामे ग्रामे कुटी रम्या निर्झरे निर्झरे जलम् ।
भिक्षायां सुलभं चान्नं विभवैः किं प्रयोजनम् ॥ ४६ ॥

देव, अस्माकं नैको देशः । सकलभूमण्डलं भ्रमामः । गुरूपदेशे तिष्ठामः । निखिलं भुवनतलं करतलामलकवत्पश्यामः । सर्पदष्टं विषव्याकुलं रोगग्रस्तं शस्त्रभिन्नशिरस्कं कालशिथिलितं तात, तत्क्षणादेव विगतसकलव्याधिसञ्चयं कुर्मः इति ।

योगी ने कहा—शिव के कल्याणकारीतत्त्वार्थ को जानने वाले योगी पुरुषों का प्रत्येक देश में घर है और प्रत्येक घर में ही भिक्षा का अन्न है और सरोवर और नदी में जल है ।

गाँव-गाँव में रमणीय कुटी है, प्रत्येक झरने में जल है, भिक्षा में अन्न सरलता से प्राप्य है; उन्हें ऐश्वर्यों से क्या प्रयोजन !

देव, हमारा एक देश नहीं है। समस्त भूमंडल में भ्रमण करते हैं । गुरु के उपदेश पर विश्वास करते हैं । संपूर्ण भुवनमंडल को हथेली पर धरे आँवले के समान देखते हैं । साँप के काटे, विप से छटपटाते, रोगी, शस्त्र द्वारा कटे सिर वाले, मौत से ठंडे पड़े को हे तात, हम क्षण भर में संपूर्ण रोगों से रहित कर देते हैं ।

राजापि कुड्यन्तर्हित एव श्रुतसकलवृत्तान्तः सभामागतः कापालिकं दण्डवत्प्रणम्य, योगीन्द्र, रुद्रकल्प, परोपकारपरायण, महापापिना मया हतस्य पुत्रस्य प्राणदानेन मां रक्ष' इत्याह। अथ कापालिकोऽपि 'राजन्, मा भैषीः । पुत्रस्ते न मरिष्यति । शिवप्रसादेन गृहमेष्यति । परं श्मशानभूमौ बुद्धिसागरेण सह होमद्रव्याणि प्रेषय' इत्यवोचत् । ततो राज्ञा 'कापालिकेन यदुक्तं तत्सर्वं तथा कुरु' इति बुद्धिसागरः प्रेषितः ।

ओट में खड़ा राजा भी समस्त वृत्तांत सुन कर सभा में आ गया और कापालिक को दंडवत् प्रणाम करके बोला—'रुद्र के समान, परोपकार में लग्न योगिराज, मुझ महापापी द्वारा मार डाले गये पुत्र की रक्षा उसे प्राण देकर कीजिए ।' कापालिक ने भी कहा—'राजन्, मत डर । तेरा पुत्र नहीं मरेगा । शिव के प्रसाद से घर आयेगा । परंतु श्मशान भूमि में बुद्धिसागर के

साथ होम की सामग्री भेज।' सो राजाने यह कह कर बुद्धिसागर को भेज दिया कि कापालिक ने जो कहा है, वैसा ही सब करो।

ततो रात्रौ गूढरूपेण भोजोऽपि तत्र नदीपुलिने नीतः। 'योगिना भोजो जीवितः' इति प्रथा च समभूत्। ततो गजेन्द्रारूढो वन्दिभिः स्तूयमानो भेरीमृदङ्गादिघोषैर्जगद्बधिरीकुर्वन्पौरामात्यपरिवृतो भोजराजो राजभवनमगात्। राजा च तमालिङ्ग्य रोदिति। भोजोऽपि रुदन्तं मुञ्जं निवार्यास्तौषीत्।

तदनंतर रात में गुप्त रूप से भोज भी नदी तट पर ले जाया गया। 'योगी द्वारा भोज जिला दिया गया है,' ऐसी प्रसिद्धि हो गयी। तत्पश्चात् गजराज पर चढ़ा, वंदियों द्वारा प्रशंसित होता, नगाड़े और मृदंग आदि के घोषों से संसार को वहिरा करता, नगरवासियों और मंत्रियों से घिरा भोज राज राजमहल में पहुँचा। राजा उसका आलिंगन करके रोने लगा। भोजने भी रोते हुए मुंज को चुपाकर उसकी स्तुति की।

ततः सन्तुष्टो राजा निजसिंहासने तस्मिन्निवेशयित्वा छत्रचामराभ्यां भूषयित्वा तस्मै राज्यं ददौ। निजपुत्रेभ्यः प्रत्येकमेकैकं ग्रामं दत्त्वा परमप्रेमास्पदं जयन्तं भोजनिकाशे निवेशयामास। ततः परलोकपरित्राणो मुञ्जोऽपि निजपट्टराज्ञीभिः सह तपोवनभूमिं गत्वा परं तपस्तेपे। ततो भोजभूपालश्च देवब्राह्मणप्रसादाद्राज्यं पालयामास।

इति भोजराजस्य राज्यप्राप्तिप्रबन्धः।

तत्पश्चात् संतुष्ट हुए राजा ने अपने उस सिंहासन पर वैठा कर और छत्र-चामर (आदि राज चिह्नों) से सुशोभित कर उसे (भोज को) राज्य दे दिया। अपने प्रत्येक पुत्र को एक-एक गाँव देकर अपने सवसे प्रिय जयंत कुमार को राज भोज के निकट रख दिया। तदनंतर परलोक सुधारने की इच्छा करता मुंज भी अपनी पटरानियों सहित तपोवन भूमि में जाकर परम तप करने लगा। उसके वाद देवताओं और ब्राह्मणों के प्रसाद से राजा भोज राज्य का पालन करने लगा।

राजा भोज को राज्य मिलने की कथा समाप्त।

—:o:—

(२) गोविन्दपण्डितः भोजराजेन च विदुषां सम्मानः

ततो मुञ्जे तपोवनं याते बुद्धिसागरं मुख्यामात्यं विधाय स्वराज्यं भुजे भोजराजभूपतिः। एवमतिक्रामति काले कदाचिद्राज्ञा क्रीडतोद्यानं गच्छता कोऽपि धारानगरवासी विप्रो लक्षितः। स च राजानं वीक्ष्य नेत्रे निमील्यागच्छन्राज्ञा पृष्टः—'द्विज, त्वं मां दृष्ट्वा न स्वस्तीति जल्पसि। विशेषेण लोचने निमीलयसि। तत्र को हेतुः इति।

तत्पश्चात् मुंज के तपोवन चले जाने पर बुद्धिसागर को मुख्यमंत्री बनाकर राजा भोज अपने राज्य का भोग करने लगा। इस प्रकार समय व्यतीत होने पर क्रीडामग्न राजा ने उद्यान जाते हुए एक धारानगर निवासी ब्राह्मण देखा। राजा को देख आँख-मीच कर चले जाते उससे राजा ने पूछा—'हे ब्राह्मण, तुम मुझे देखकर 'स्वस्ति' (कल्याण हो) नहीं कहते हो और ऊपर से आँखें मूँद लेते हो। इसमें क्या कारण है?

विप्र आह—'देव, त्वं वैष्णवोऽसि। विप्राणां नोपद्रवं करिष्यसि ततस्त्वत्तो न मे भीतिः। किन्तु कस्मैचित्किमपि न प्रयच्छसि; तेन तव दाक्षिण्यमपि नास्ति। अतस्ते किमाशीर्वचसा। किं च प्रातरेव कृपणमुखावलोकनात्परतोऽपि लाभहानिः स्यादिति लोकोक्त्या लोचने निमीलिते।

ब्राह्मण बोला—'देव, आप वैष्णव हैं; ब्राह्मणों का कोई अनिष्ट नहीं करेंगे, अतः आपसे डर नहीं है। किंतु किसी को कुछ देते नहीं, इससे आप में उदारता भी नहीं है। अतएव आशीर्वाद से आपका क्या? परंतु सवेरे ही सवेरे कंजूस का मुँह देखने के कारण अन्य प्रकार से भी लाभ की हानि हो सकती है—इस कहावत को ध्यान में रखते हुए मैंने नेत्र मूँद लिये।

अपि च—प्रसादो निष्फलो यस्य कोपश्चापि निरर्थकः।
न तं राजानमिच्छन्ति प्रजाः षण्ढमिव स्त्रियः॥ ४७॥
अप्रगल्भस्य या विद्या कृपणस्य च यद्धनम्।
यच्च बाहुबलं भीरोर्व्यर्थमेतत्त्रयं भुवि॥ ४८॥

कहा भी है—जिसकी प्रसन्नता निष्फल हो और क्रोध निरर्थक, ऐसे राजा को प्रजा नहीं चाहती, जैसे नपुंसक को स्त्रियाँ नहीं चाहतीं।

बोल न जानने वाले की जो विद्या है, कंजूस का जो धन है और डरपोक का जो भुजबल है,—ये तीनों संसार में व्यर्थ हैं।

देव, मत्पिता वृद्धः काशीं प्रति गच्छन्मया शिक्षां पृष्टः—'तात, मया किं कर्तव्यम्' इति। पित्रा चेत्थमभ्यधायि—

'यदि तव हृदयं विद्वन्सुनयं स्वप्नेऽपि मा स्म सेविष्ठाः।
सचिवजितं षण्ढजितं युवतिजितं चैव राजानम्॥ ४९॥
पातकानां समस्तानां द्वे परे तात पातके।
एक दुःसचिवो राजा द्वितीयं च तदाश्रयः॥ ५०॥
अ (१) विवेकमतिर्नृपतिर्मन्त्री गुणवत्सु वक्रितग्रीवः।
यत्र खलाश्च प्रबलास्तत्र कथं सज्जनावसरः॥ ५१॥
राजा सम्पत्तिहीनोऽपि सेव्यः सेव्यगुणाश्रयः।
भवत्याजीवनं तस्मात्फलं कालान्तरादपि॥ ५२॥

महाराज, अपने काशी जाते बूढ़े पिता से मैंने सीख माँगी कि—'तात, मुझे क्या करना उचित है?' पिता ने इस प्रकार कहा:—'विद्वान् बेटे, यदि तेरे हृदय में सुनीति है तो स्वप्न में भी मंत्री के, नपुंसक के और तरुणी के वशीभूत राजा की सेवा न करना।

हे तात, सब पापों में दो पाप सबसे बड़े हैं—एक बुरे मंत्रीवाला राजा और दूसरा उसका आश्रय।

जहाँ विवेक बुद्धि शून्य राजा हो, जहाँ गुणियों पर टेढ़ी गरदन रखनेवाला (पराङ्मुख) मंत्री हो और खल दुष्ट प्रबल पड़ते हों, सज्जन को वहाँ अवसर कहाँ?

संपत्तिहीन होने पर भी सेवनीय गुणों से मंडित राजा की सेवा करनी उचित है। कालांतर में उससे जीवन पर्यंत फल मिलता है।

अदातुर्दाक्षिण्यं नहि भवति। देव, पुरा कर्ण-दधिचि-शिवि-विक्रम-प्रमुखाः क्षितिपतयो यथा परलोकमलङ्कुर्वाणा निजदानसमुद्भूतदिव्यनवगुणैर्निवसन्ति महीमण्डले, तथा किमपरे राजानः।

दान न करने वाले में उदारता नहीं होती। देव, प्राचीन काल में कर्ण,

---

(१) अविवेका विवेकरहिता मतिः बुद्धिर्यस्य सः।

दधीचि, शिवि, विक्रम-आदि धरती के स्वामी अपने दान से उत्पन्न दिव्य नवीन गुणों से युक्त हो पृथ्वी मंडल पर परलोक को अलंकृत बनाते हुए जिस प्रकार रहते थे, वैसे और राजा क्या हैं ?

देहे पातिनि का रक्षा यशो रक्ष्यमपातवत्।
नरः पतितकायोऽपि यशःकायेन जीवति ॥ ५३ ॥
पण्डिते चैव मूर्खे च बलवत्यपि दुर्बले।
ईश्वरे च दरिद्रे च मृत्योः सर्वत्र तुल्यता ॥ ५४ ॥
निमेषमात्रमपि ते वयो गच्छन्न तिष्ठति।
तस्माद्देहेष्वनित्येषु कीर्तिमेकामुपार्जयेत् ॥ ५५ ॥
जीवितं तदपि जीवितमध्ये गण्यते सुकृतिभिः किमु पुंसाम्।
ज्ञानविक्रमकलाकुललज्जा-त्यागभोगरहितं विफलं यत्' ॥५६॥

नष्ट होने वाले देह की रक्षा क्या करना, अविनश्वर यश की रक्षा उचित है। देह नष्ट हो जाने पर भी मनुष्य यशः शरीर से जीवित रहता है।

चाहे पंडित हो, चाहे मूर्ख; चाहे बली हो, चाहे दुर्बल; चाहे धनी हो, चाहे दरिद्र—मृत्यु सबको समान है।

व्यतीत होती तेरी आयु पल भर को भी नहीं रुकती, इससे उचित है कि इन अनित्य शरीरों के रहते केवल यश का अर्जन करे।

मनुष्यों का ज्ञान, पराक्रम, कला, कुल की लज्जा, त्याग और भोग से हीन जो निष्फल जीवन है, पुण्यकर्मा जन उसकी भी क्या जीवनों के मध्य गणना करते हैं ?

राजापि तेन वाक्येन (१) पीयूषपूरस्नात इव, परब्रह्मणि लीन इव, लोचनाभ्यां हर्षाश्रूणि मुमोच। प्राह च द्विजम्—'विप्रवर, शृणु—

सुलभाः पुरुषा लोके सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ ५७ ॥
मनीषिणः सन्ति न ते हितैषिणो हितैषिणः सन्ति न ते मनीषिणः।
सुहृच्च विद्वानपि दुर्लभो नृणां यथौषधं स्वादु हितं च दुर्लभम्' ॥ ५८ ॥

इति विप्राय लक्षं दत्त्वा 'किं ते नाम' इत्याह।

---

(१) सुधापूरस्नात इव।

राजा भी उस वाक्य से जैसे अमृत-प्रवाह में स्नान करता हुआ, जैसे परब्रह्म में लीन नेत्रों से हर्ष के आँसू गिराने लगा और ब्राह्मण से बोला—'ब्राह्मण श्रेष्ठ, सुनो—

निरंतर प्रिय बोलने वाले पुरुष संसार में सुलभ है; जो प्रिय न हो और हितकारी हो, ऐसे वचन कहने वाला और सुनने वाला दुर्लभ है।

जो समझदार हैं, वे हित चाहने वाले नहीं हैं, जो हित चाहने वाले हैं, वे समझदार नहीं। जो मित्र भी हो, विद्वान् भी हो,—मनुष्यों में ऐसा व्यक्ति मिलना वैसे ही दुर्लभ है, जैसे स्वादिष्ठ और लाभकारी औषध मिलना।

ऐसा कह विप्र को एक लाख देकर पूछा कि—'तुम्हारा नाम क्या है?'

विप्रः स्वनाम भूमौ लिखति 'गोविन्दः' इति। राजा वाचयित्वा 'विप्र, प्रत्यहं राजभवनमागन्तव्यम्। न ते कश्चिन्निषेधः। विद्वांसः कवयश्च कौतुकात्सभामानेतव्याः। कोऽपि विद्वान्न खलु दुःखभागस्तु, एनमधिकारं पालय' इत्याह।

ब्राह्मण ने अपना नाम धरती पर लिख दिया—'गोविंद'। बाँचकर राजा बोला—'ब्राह्मण, तुम्हें प्रतिदिन राजभवन में आना है। तुम्हारे लिए कोई रोक नहीं। और विद्वानों और कवियों को प्रसन्नतापूर्वक सभा में लाते रहना। कोई विद्वान् दुःखी न रहे। इस अधिकार का पालन करो।'

एवं गच्छत्सु कतिपयदिवसेषु राजा विद्वत्प्रियो दानवित्तेश्वर इति प्रथामगात्। ततो राजानं दिदृक्षवः कवयो नानादिग्भ्यः समागताः। एवं वित्तादिव्ययं कुर्वाणं राजानं प्रति कदाचिन्मुख्यामात्येनेत्थमभ्यधायि—'देव, राजानः कोशबला एव विजयिनः। नान्ये।

स जयी वरमातङ्गा यस्य तस्यास्ति मेदिनी।
कोशो यस्य स दुर्धर्षो दुर्गं यस्य स दुर्जयः॥ ५९॥

देव लोकं पश्य—

प्रायो धनवतामेव धने तृष्णा गरीयसी।
पश्य कोटिद्वयासक्तं लक्षाय प्रवणं धनुः'॥ ६०॥ इति

इस प्रकार कुछ दिवस व्यतीत होने पर राजा 'विद्वानों का प्यारा,' 'महान् दानशील' प्रसिद्ध हो गया। तब अनेक दिशाओं से राजा के दर्शनार्थी

कवि आने लगे। इस प्रकार धन आदि का व्यय करते हुए राजा से एक दिन मुख्यमंत्री ने इस प्रकार कहा—'महाराज, जिनपर कोश का बल होता है, वे ही राजा विजयी होते हैं, अन्य नहीं।

जिसकी धरती अच्छी राज सेना से पूर्ण है, वह जयी होता है। जिसका कोश ठीक है, वह प्रचंड होता है; और जिस पर दुर्ग है, वह कठिनता से जीतने योग्य होता है।

देव, दुनिया देखिए—

प्रायशः धन के प्रति धनवानों की ही तृष्णा बड़ी होती है। दो कोटि—दोनों छोरों पर खींचा गया धनुष जैसे लक्ष के लिए उपयुक्त होता है, वैसे ही दो कोटि अर्थात् दो करोड़ का स्वामी मनुष्य लाख पाने के लिए यत्नशील रहता है।'

राजा च तमाह—

'दानोपभोगवन्ध्या या सुहृद्भिर्या न भुज्यते।
पुंसा समाहिता लक्ष्मीरलक्ष्मीः क्रमशो भवेत् ॥ ६१ ॥

इत्युक्त्वा राजा तं मन्त्रिणं निजपदाद्दूरीकृत्य तत्पदेऽन्यं निवेशयामास।

आह च तम्—'लक्षं महाकवेर्देयं तदर्धं विबुधस्य च।
देयं ग्रामैकमर्थ्यस्य तस्याप्यर्धं तदर्थिनः ॥ ६२ ॥

यश्च मेऽमात्यादिषु वितरणनिषेधमनाः स हन्तव्यः। उक्तं च—

यद्ददाति यदश्नाति तदेव धनिनां धनम्।
अन्ये मृतस्य क्रीडन्ति दारैरपि धनैरपि ॥ ६३ ॥

प्रियः प्रजानां दातैव न पुनर्द्रविणेश्वरः।
अयच्छन्काङ्क्षते लोकैर्वारिदो न तु वारिधिः ॥ ६४ ॥

सङ्ग्रहैकपरः प्रायः समुद्रोऽपि रसातले।
दातारं जलदं पश्य गर्जन्तं भुवनोपरि' ॥ ६५ ॥

राजा ने उससे कहा—

जो दान और उपभोग में नहीं आपाती अथवा मित्रों द्वारा जिसका भोग

नहीं हो पाता, मनुष्य की एकत्र की हुई वह लक्ष्मी धीरे-धीरे अलक्ष्मी हो जाती है।

ऐसा कह कर राजा ने उसके पद से उस मंत्री को दूर करके उसके स्थान पर दूसरे को नियुक्त कर दिया और उस (नये) से कहा—

'महाकवि को लाख दो, विद्वान् को उसका आधा; काव्यार्थ के ज्ञाता को एक गाँव देना और उसके सामान्यार्थ ज्ञाता को आधा गाँव।

और मेरे मंत्रियों में जो दान का निषेध करने का इच्छुक है, वह वध योग्य है। कहा है—

जिसका दान होता है और जिसका भोग होता है, धनियों का धन वही है। मरजाने वाले के अवशिष्ट स्त्रीसमूह और धन से दूसरे खेलते हैं।

प्रजाजन का प्रिय दाता ही होता है, धनी नहीं। संसारी जनों द्वारा वारि दाता बादल की ही आकांक्षा की जाती है, वारि के कोश समुद्र की नहीं।

संग्रह में ही लगा रहने वाला समुद्र प्रायः धरती पर ही रहता है और जल का दाता बादल—देखो, भुवन मंडल के ऊपर ही गरजता रहता है।

एवं वितरणशालिनं भोजराजं श्रुत्वा कश्चित्कलिङ्गदेशात्कविरुपेत्य मासमात्रं तस्थौ। न च क्षोणीन्द्रदर्शनं भवति। आहारार्थं (१) पाथेयमपि नास्ति। ततः कदाचिद्राजा मृगयाभिलाषी बहिर्निर्गतः। स कविर्दृष्ट्वा राजानमाह—

'दृष्टे श्रीभोजराजेन्द्रे गलन्ति त्रीणि तत्क्षणात्।
शत्रोः शस्त्रं कवेः कष्टं नीवीबन्धो मृगीदृशाम्' ॥ ६६ ॥

राजा लक्षं ददौ।

इस प्रकार दानशील भोजराज का श्रवण कर कलिंग देश से एक कवि आकर एक मास तक प्रतीक्षा करता रहा। राजा का दर्शन न हो पाया। भोजन के लिए संबल भी न रहा। तब कभी राजा आखेट की इच्छा से बाहर निकला। देख कर वह कवि राजा से बोला—

'श्री भोजराजेंद्र का दर्शन होते ही तीन वस्तुएँ उसी क्षण गल जाती हैं—

(१) पथि साधु पाथेयम्, "पथ्यतिथिवसति०" इत्यनेन ढञ्।

शत्रु का शस्त्र, कवि का कष्ट और मृगनयनाओं का नीवीबंध ।

(एक पाठ 'नीवीबन्धो मृगीदृशां' के स्थान पर 'गर्विताञ्च गौरवम्' है, अर्थ—'अभिमानियों का मान' ।)

राजा ने एक लाख मुद्रा दिया ।

ततस्तस्मिन्मृगयारसिके राजनि कश्चन पुलिन्दपुत्रो गायति। तद्गीतमाधुर्येण तुष्टो राजा तस्मै पुलिन्दपुत्राय पञ्चलक्षं ददौ । तदा कविस्तद्दानमत्युन्नतं किरातपोतं च दृष्ट्वा नरेन्द्रपाणिकमलस्थपङ्कज-मिषेण राजानं वदति—

एते हि गुणाः पङ्कज सन्तोऽपि न ते प्रकाशमायान्ति ।
यल्लक्ष्मीवसतेस्तव मधुपैरुपभुज्यते कोशः' ॥ ६७ ॥

भोजस्तमभिप्रायं ज्ञात्वा पुनर्लक्षमेकं ददौ ।

तदनंतर राजा के मृगया में अनुरक्त रहने पर किसी भील के बेटे ने गाया । उस गीत माधुरी से संतुष्ट हो राजा ने भील के पुत्र को पाँच लाख दिये । तब कवि ने उस किरात पुत्र के अनुपात में दान को कहीं अधिक देखकर राजा के करकमल में स्थित कमल के व्याज से राजा से कहा—

हे कमल, रहने पर भी तेरे वे गुण प्रकट नहीं हो पाते क्योंकि लक्ष्मी के निवास स्थल तेरे कोश का उपभोग भ्रमर कर लेते हैं । भोज ने उसका अभिप्राय समझ कर फिर एक लाख दिया ।

ततो राजा ब्राह्मणमाह—

'प्रभुभिः पूज्यते विप्र कलैव न कुलीनता ।
कलावान्मान्यते मूर्ध्नि सत्सु देवेषु शम्भुना' ॥ ६८ ॥

एवं वदति भोजे कुतोऽपि (१) पञ्चपाः कवयः समागताः । तान्दृष्ट्वा राजा विलक्षण इवासीत्—'अद्यैव मयैतावद्वित्तं दत्तम्' इति । ततः कविस्तमभिप्रायं ज्ञात्वा नृपं पद्ममिषेण पुनः प्राह....

'किं कुप्यसि कस्मैचन सौरभसाराय कुप्य निजमधुने ।
यस्य कृते शतपत्र प्रतिपत्रं तेऽद्य मृग्यते भ्रमरैः' ॥ ६९ ॥

तब राजा ने ब्राह्मण से कहा—

---

(१) पञ्च वा षड् वा पञ्चपाः "संख्ययाव्ययासन्ना०" इत्यनेन बहुव्रीहिः ।

हे ब्राह्मण, समर्थ पुरुषों द्वारा कुलीनता की नहीं, कला की ही पूजा की जाती है। इतने देवों के होने पर भी कलावान् चंद्रमा ही शिव शंभु द्वारा समानित होता है।

भोजराज के ऐसा कहते ही कहीं से पाँच-छः कवि आगये। उन्हें देखकर राजा विगतलक्षण—अनमना-सा हो गया कि आज ही मैंने इतना धन दान किया है। तब कवि ने उसके अभिप्राय को समझ कर पुनः कमल के व्याज से राजा से कहा—

हे शतदल कमल, जिसके निमित्त भ्रमर आज तेरे पत्ते-पत्ते में अनुसंधान कर रहे हैं, उस नवीन सुगंध के सार से पूर्ण अपने मधु के हेतु क्यों किसी से कुपित होते हो?

ततः प्रभुं प्रसन्नवदनमवलोक्य प्रकाशेन प्राह—

'न दातुं नोपभोक्तुं च शक्नोति कृपणः श्रियम्।
किन्तु स्पृशति हस्तेन नपुंसक इव स्त्रियम्॥ ७०॥
याचितो यः प्रहृष्येत दत्त्वा प्रीतिमान्भवेत्।
तं दृष्ट्वाप्यथवा श्रुत्वा नरः स्वर्गमवाप्नुयात्'॥ ७१॥

ततस्तुष्टो राजा पुनरपि कलिङ्गदेशवासिकवये लक्षं ददौ।

तत्पश्चात् स्वामी को प्रसन्नवदन देखकर प्रकट रूप से बोला—

कंजूस न तो संपत्ति का दान कर पाता है, न भोग। नपुंसक जैसे स्त्री को हाथ से छूता भर है, वैसे ही वह भी संपत्ति का हाथ से स्पर्श मात्र करता है।

जो याचना किये जाने पर हर्ष को प्राप्त हो और देकर प्रसन्न हो, ऐसे व्यक्ति को देखकर अथवा उसके विषय में सुनकर भी मनुष्य को स्वर्ग प्राप्त होता है।

तब संतुष्ट हो राजा ने कलिंग देश के वासी कवि को पुनः लाख दिये।

ततः पूर्वकविः पुरःस्थितान्षट्कवीन्द्रान्दृष्ट्वाह—'हे कवयः, अत्र महासरः सेतुभूसौवासी राजा यदा भवनं गमिष्यति तदा किमपि ब्रूत' इति। ते च सर्वे महाकवयोऽपि सर्वं राज्ञः प्रथमचेष्टितं ज्ञात्वावर्तन्त। तेष्वेकः सरोमिषेण नृपं प्राह—

'आगतानामपूर्णानां पूर्णानामपि गच्छताम् ।
यदध्वनि न सङ्घट्टो घटानां तत्सरो वरम्' ॥ ७२ ॥

इति । तस्य राजा लक्षं ददौ ।

तब पहिले आया कवि संमुख स्थित छः कविराजों को देखकर बोला--हे कवियों, इस महान् सरोवर की तटभूमि पर स्थित राजा जब स्व-भवन जाय, तब कुछ कहना । वे सब महाकवि राजा का संपूर्ण पूर्व कृत आचरण जान कर खड़े थे । उनमें से एक सरोवर के व्याज से राजा से बोला--

खाली आये और भर कर जाते घड़ों की मार्ग में जो टकराहट न हो, तालाब वही अच्छा होता है ।

संतुष्ट राजा ने उसे लाख दिये ।

ततो गोविन्दपण्डितस्तान्कवीन्द्रान्दृष्ट्वा चुकोप। तस्य कोपाभिप्रायं ज्ञात्वा द्वितीयः कविराह--

'कस्य तृषं न क्षपयसि पिबति न कस्तव पयः प्रविश्यान्तः ।
यदि सन्मार्गसरोवर नक्रो न क्रोडमधिवसति' ॥ ७३ ॥

राजा तस्मै लक्षद्वयं ददौ । तं च गोविन्दपण्डितं व्यापारपदाद्दूरीकृत्य 'त्वयापि सभायामागन्तव्यम्, परं तु केनापि दौष्ट्यं न कर्तव्यम्' इत्युक्त्वा ततस्तेभ्यः प्रत्येकं लक्षं दत्त्वा स्वनगरमागतः ते च यथायथं गताः ।

तब गोविंद पंडित उन कविराजों को देखकर क्रुद्ध हो गया । उसके क्रोध का अभिप्राय जानकर दूसरा कवि बोला--

हे मार्ग के सुन्दर सरोवर, तुम किस की प्यास न बुझा देते और कौन तुम्हारे भीतर प्रविष्ट होकर जल नहीं पी लेता, यदि तुम्हारे भीतर मगर न निवास करता ?

राजा ने उसे दो लाख दिये । और उस गोविंद पंडित को प्रदत्त कार्य के पद से हटाकर आज्ञा दी--'सभा में तुम भी आना, परंतु किसी के साथ दुष्टता न करना ।' और ऐसा कह कर राजा उन सब में प्रत्येक को लाख-लाख देकर अपने नगर लौट आया । वे सब कवि अपने-अपने स्थान को गये ।

ततः कदाचिद्राजा मुख्यामात्यं प्राह--

'विप्रोऽपि यो भवेन्मूर्खः स पुराद्वहिरस्तु मे ।
कुम्भकारोऽपि यो विद्वान्स तिष्ठतु पुरे मम' ॥ ७४ ॥

इति । अतः कोऽपि न मूर्खोऽभूद्धारानगरे ।

तदनंतर एकबार राजा ने मुख्य मंत्री से कहा—

ब्राह्मण भी यदि मूर्ख हो, तो मेरी पुरी के बाहर रहे और कुम्हार भी यदि विद्वान् हो तो मेरे नगर में निवास करे ।

अतः धारा नगर में कोई मूर्ख नहीं रहा ।

३—राजसभायां कालिदासस्य आगमनम्

ततः क्रमेण पञ्चशतानि विदुषां वररुचि-बाण-मयूर-रेफण-हरि-शंकर-कलिङ्ग-कर्पूर-विनायक-मदन-विद्या-विनोद-कोकिल-तारेन्द्रमुखाः सर्वशास्त्रविचक्षणाः सर्वे सर्वज्ञाः श्रीभोजराजसभामलंचक्रुः । एवं स्थिते कदाचिद्विद्वद्वृन्दवन्दित-सिंहासनासीने कविशिरोमणौ कवित्वप्रिये विप्रप्रियबान्धवे भोजेश्वरे द्वारपाल एत्य प्रणम्य व्यजिज्ञपत्—'देव, कोऽपि विद्वान्द्वारि तिष्ठति' इति ।

तत्पश्चात् धीरे-धीरे समस्त शास्त्रों के विज्ञाता, सब सबकुछ जानने वाले वररुचि, बाण, मयूर, रेफण, हरि, शंकर, कलिंग, कर्पूर, विनायक मदन, विद्याविनोद, कोकिल, तारेंद्र आदि पाँच सौ विद्वान् श्री भोजराज की सभा को सुशोभित करने लगे । इस प्रकार कभी विद्वत्समूह द्वारा वंदित सिंहासन पर कवि शिरोमणि, कवित्व को प्रेम करनेवाले, ब्राह्मणों के प्यारे बंधु राजा भोज के बैठे होने पर द्वारपाल ने आकर तथा प्रणाम करके निवेदन किया—'महाराज, द्वार पर कोई विद्वान् प्रतीक्षा कर रहा है ।'

अथ राज्ञा 'प्रवेशय तम्' इत्याज्ञप्ते सोऽपि दक्षिणेन पाणिना समुन्नतेन विराजमानो विप्रः प्राह—'राजन्नभ्युदयोऽस्तु'

राजा—'शंकरकवे किं पत्रिकायामिदम्'

कविः—'पद्यम्'

राजा—'कस्य'

कविः—'तवैव भोजनृपते'

राजा—'तत्पठ्यताम्'

कविः—'पठ्यते'

एतासामरविन्दसुन्दरदृशां द्राक्चामरान्दोलना-
दुद्वेल्लद्भुजवल्लिकङ्कणझणत्कारः क्षणं वार्यताम् ॥ ७५ ॥

यथा यथा भोजयशो विवर्धते सितां त्रिलोकीमिव कर्तुमुद्यतम् ।
तथा तथा मे हृदयं विदूयते प्रियालकालीधवलत्वशङ्कया' ॥ ७६ ॥

ततो राजा शंकरकवये द्वादशलक्षं ददौ । सर्वे विद्वांसश्च विच्छायवदना बभूवुः । परं कोऽपि राजभयान्नावदत् । राजा च कार्यवशाद्गृहं गतः ।

राजा द्वारा उसे प्रविष्ट कराने का आदेश होने पर दाहिना हाथ ऊपर उठाये वह ब्राह्मण बोला—राजन्, उन्नति हो ।

राजा ने पूछा—हे शंकर कवि, पत्रिका में क्या है ?

कवि—पद्य ।

राजा—किसके निमित्त ।

कवि—हे भोजराज, आपके ही निमित्त ।

राजा—तो पढ़िए ।

कवि—पढ़ता हूँ—

परंतु क्षण भरको इन कमल के समान सुंदर नयनों वाली रमणियों के जल्दी-जल्दी चँवर डुलाने के कारण हिलती भुजलताओं में पड़े कंकणों के झणत्कार का निवारण तो कीजिए ।

हे भोज, तीनों लोकों को सफेद करने को उद्यत आपका यश जैसे जैसे बढ़ता है, वैसे-वैसे अपनी प्रिया की अलकावली के श्वेत हो जाने की आशंका से मेरा हृदय व्यथित होता है ।

तब राजा ने शंकर कवि को बारह लाख दिये । और सब विद्वानों के मुख उतर गये, परंतु राजा के डर से सब चुप रहे । राजा कार्यवश बाहर चला गया ।

ततो विभूपालां सभां दृष्ट्वा विबुधगणस्तं निनिन्द—'अहो नृपतेरज्ञता । किमस्य सेवया । वेदशास्त्रविचक्षणेभ्यः स्वाश्रयकविभ्यो लक्षमदात् । किमनेन वितुष्टेनापि । असौ च केवलं ग्राम्यः कविः शंकरः । किमस्य प्रागल्भ्यम् ।' इत्येवं कोलाहलरवे जाते कश्चिदभ्यगात्

कनकमणिकुण्डलशाली दिव्यांशुकप्रावरणो नृपकुमार इव मृगमदपङ्क-कलङ्कितगात्रो नवकुसुमसमभ्यर्चितशिराश्चन्दनाङ्गरागेण विलोभयन्विलास इव मूर्तिमान्कवितेव तनुमाश्रितः शृङ्गाररसस्य स्यन्द इव सस्पन्दो महेन्द्र इव महीवलयं प्राप्तो विद्वान्। तं दृष्ट्वा सा विद्वत्परिषद्भयकौतुकयोः पात्रमासीत्। स च सर्वान्प्रणिपत्य प्राह—'कुत्र भोजनृपः' इति। ते तमूचुः–इदानीमेव सौधान्तरगतः' इति। ततोऽसौ प्रत्येकं तेभ्यस्ताम्बूलं दत्त्वा गजेन्द्रकुलगतो मृगेन्द्र इवासीत्।

तदनंतर सभा को राजा से रहित पाकर विद्वान् लोग उसकी निंदा करने लगे—'अरे, राजा का अज्ञान है। इसकी सेवा से क्या लाभ ? वेद-शास्त्रों के विज्ञाता अपने आश्रित कवियों को इसने एक लाख दिया। इतने असंतुष्ट होने से भी क्या ? यह एक ग्रामीण कवि मात्र है। इसमें प्रगल्भता ही क्या है ?' इस प्रकार कोलाहल शब्द होने पर सोने के मणिजटित कुंडल-धारण किये, अत्यंत सुंदर वस्त्र पहिने, राजकुमार की भाँति कस्तूरी का लेप समस्त शरीर पर किये, नवीन पुष्पों से सिर को सुशोभित किये, चंदन के अंगराग से लुब्ध करता हुआ मूर्तिमान् विलास के समान, जैसे कविता ने ही देह-धारण की हो ऐसा, शृंगार रस के प्रवाह की भाँति, भूतल पर अवतीर्ण साक्षात् महेंद्र के समान कोई विद्वान् आया। उसे देखकर वह विद्वन्मंडली भय और कौतुक की पात्र बन गयी। वह सबको प्रणाम करके बोला—'राजा भोज कहाँ हैं ?' उन्होंने उसे बताया—'अभी प्रासाद में गये हैं।' तब वह उन सबको एक-एक तांबूल देकर राजराजों के बीच स्थित मृगराज की भाँति स्थित हुआ।

ततः स महापुरुषः शंकरकविप्रदानेन कुपितांस्तान्बुद्ध्वा प्राह—'भवद्भिः शंकरकवये द्वादशलक्षाणि प्रदत्तानीति न मन्तव्यम्। अभिप्रायस्तु राज्ञो नैव बुद्धः। यतः शंकरपूजने प्रारब्धे शंकरकविस्त्वेकेनैव लक्षेण पूजितः। किं तु तन्निष्टांस्तन्नाम्ना विभ्राजितानेकादशरुद्राञ्शंकरानपरान्मूर्तीन्प्रत्यक्षाञ्ज्ञात्वा तेषां प्रत्येकमेकैकं लक्षं तस्मै शङ्करकवय एव शङ्करमूर्तये प्रदत्तमिति राज्ञोऽभिप्रायः' इति। सर्वेऽपि चमत्कृतास्तेन।

तत्पश्चात् शंकर कवि को दान मिलने के कारण उन (विद्वानों) को क्रुद्ध हुआ जान वह महापुरुष बोला—'शंकर कवि को बारह लाख दिये गये हैं'—आपका यह मानना उचित नहीं है। राजा का अभिप्राय तो आपने नहीं समझा। वस्तुतः शंकर-पूजन आरब्ध होने पर शंकर कवि तो एक लाख से ही पूजा गया है, किंतु उसमें स्थित और उसके नाम से प्रकाशित एकादश रुद्रों को, शंकर की अन्य प्रत्यक्ष मूर्तियाँ समझ कर, उनमें से प्रत्येक को एक एक लाख शंकर कवि को ही शंकरमूर्ति विचार कर दिया गया—राजा का यह अभिप्राय है।' उसने सब को चमत्कृत कर दिया।

ततः कोऽपि राजपुरुषस्तद्विद्वत्स्वरूपं द्राग्राज्ञे निवेदयामास। राजा च स्वमभिप्रायं साक्षाद्विदितवन्तं तं महेशमिव महापुरुषं मन्यमानः सभामभ्यगात्। स च 'स्वस्ति'-इत्याह राजानम्। राजा च तमालिङ्ग्य प्रणम्य निजकरकमलेन तत्करकमलमवलम्ब्य सौधान्तरं गत्वा प्रोत्तुङ्गगवाक्ष उपविष्टः प्राह—'विप्र भवन्नाम्ना कान्यक्षराणि सौभाग्यावलम्बितानि। कस्य वा देशस्य भवद्विरहः सुजनान्बाधते' इति। ततः कविर्लिखति राज्ञो हस्ते 'कालिदासः' इति। राजा वाचयित्वा पादयोः पतति।

तदनंतर किसी राजपुरुष ने शीघ्रता पूर्वक उस विद्वान के स्वरूप के विषयमें राजा के आगे निवेदन किया। अपने अभिप्राय को ठीक-ठीक समझलेने वाले उसे प्रत्यक्ष महादेव मान कर राजा सभा में गये। उसने राजा से कहा—कल्याण हो।' राजा ने उसका आलिंगन किया और प्रणाम किया और अपने करकमल से उसके करकमल को पकड़ कर प्रासाद के भीतर जा खूब ऊंचे झरोखे में बैठकर बोला—ब्राह्मण, आपके नाम ने किन अक्षरों को सौभाग्यशाली बनाया है और किस देश के सत्पुरुषों को आपका विरह व्यथित कर रहा है ?' तब कवि ने राजा के हाथ पर लिख दिया—'कालिदास'। बाँच कर राजा पैरों पड़ गया।

ततस्तत्रासीनयोः कालिदासभोजराजयोरासीत्सन्ध्या। राजा—सखे, संन्ध्यां वर्णय' इत्यवादीत्। कालिदासः—

'व्यसनिन इव विद्या क्षीयते पङ्कजश्री-
गुणिन इव विदेशे दैन्यमायान्ति भृङ्गाः।
कुनृपतिरिव लोकं पीडयत्यन्धकारो
धनमिव कृपणस्य व्यर्थतामेति चक्षुः' ॥ ७७ ॥

तत्पश्चात् कालिदास और भोजराज के वहाँ बैठे-बैठे साँझ हो गयी। राजा ने कहा—'मित्र, संध्या का वर्णन करो।'

कालिदासने वर्णन किया—

कमल की शोभा व्यसनों में लीन मनुष्य की विद्या के समान क्षीण हो रही है, जैसे परदेस में गुणी दीनता को प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही भौंरे दीनता को प्राप्त हो रहे हैं। बुरे राजा की भाँति अंधकार संसार को पीड़ा दे रहा है और कजूस के धन के तुल्य नेत्र व्यर्थ हो रहे हैं।

पुनश्च राजानं स्तौति कविः—

'उपचारः कर्तव्यो यावदनुत्पन्नसौहृदाः पुरुषाः।
उत्पन्नसौहृदानामुपचारः कैतवं भवति ॥ ७८ ॥
दत्ता तेन कविभ्यः पृथ्वी सकलापि कनकसम्पूर्णा।
दिव्यां सुकाव्यरचनां क्रमं कवीनां च यो विजानाति ॥७९॥
सुकवेः शब्दसौभाग्यं सत्कविर्वेत्ति नापरः।
वन्ध्या न हि विजानाति परां दौहृदसम्पदम्' ॥ ८० ॥

इति। ततः क्रमेण भोजकालिदासयोः प्रीतिरजायत।

फिर कवि ने राजा की स्तुति की—

जब तक पुरुषों में मित्रता उत्पन्न न हो, उपचार (बाह्य आचार) तभी तक करना उचित है। जिनमें मैत्री हो गयी है, उनमें दिखावा बरतना वंचना है।

उसने सोने से भरी पूरी समूची धरती ही कवियों को दे डाली, जो अलौकिक सुकाव्य की रचना और उसके पूर्वापर संबंध को समझता है।

सुकवि के शब्द-सौभाग्य को सुकवि ही जानता है, अन्य नहीं; दूसरे की गर्भ-संपदा (संतान को पेट में रखने का सौभाग्य) को बाँझ नहीं जानती।

तदनंतर धीरे-धीरे भोज और कालिदास में प्रीति हो गयी।

४—कालिदासेन भोजः प्रशंसितः

ततः कालिदासं वेश्यालम्पटं ज्ञात्वा तस्मिन्सर्वे द्वेषं चक्रुः। न कोऽपि तं स्पृशति। अथ कदाचित्सभामध्ये कालिदासमालोक्य भोजेन मनसा चिन्तितम्—'कथमस्य प्राज्ञस्यापि स्मरपीडाप्रमादः' इति। सोऽपि तदभिप्रायं ज्ञात्वा प्राह—

'चेतोभुवश्चापलताप्रसङ्गे का वा कथा मानुषलोकभाजाम्।
यद्दाहशीलस्य पुरां विजेतुस्तथाविधं पौरुषमर्धमासीत्' ॥ ८१ ॥

ततस्तुष्टो भोजराजः प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ।

तत्पश्चात् कालिदास को वेश्यागामी जानकर सब उससे द्वेष करने लगे। उसका स्पर्श भी कोई न करता था। कभी सभा के मध्य कालिदास को देखकर भोज मन ही मन विचारने लगा—'ऐसे प्रकृष्ट विद्वान् को भी कामपीडा क्यों है?' कालिदास ने उसका अभिप्राय समझ कर कहा—

मनसिज काम की चंचलता के आगे मनुष्यलोक के निवासियों की तो कथा ही क्या है, जब कि कामदहन करने वाले त्रिपुरजयी शिव का ही वह विख्यात पौरुष [काम के संदर्भ में] आधा रह गया था।

संतुष्ट होकर राजा भोज ने प्रत्येक अक्षर पर लाख-लाख दिया।

ततः कालिदासो भोजं स्तौति—

'महाराज श्रीमञ्जगति यशसा ते धवलिते
पयः पारावारं परमपुरुषोऽयं मृगयते।
कपर्दी कैलासं करिवरमभौमं कुलिशभृ-
त्कलानाथं राहुः कमलभवनो हंसमधुना ॥ ८२ ॥

तदनंतर कालिदास ने भोज की स्तुति की—

हे श्रीमन् महाराज, तुम्हारे यश से समग्र संसार के शुभ्र हो जाने पर संप्रति ये पुरुषोत्तम विष्णु क्षीर समुद्र का अन्वेषण करते हैं, जटाजूटधारी शिव कैलास का, वज्रधर इंद्र दिव्य गजवर ऐरावत का, राहु चंद्रमा का और कमलवासी ब्रह्मा अपने वाहन हँस का।

नीरक्षीरे गृहीत्वा निखिलखगततीर्याति नालीकजन्मा
तक्रं धृत्वा तु सर्वानटति जलनिधींश्चक्रपाणिर्मुकुन्दः ।
सर्वानुत्तुङ्गशैलान्दहति पशुपतिः काललनेत्रेण पश्यन्
व्याप्तात्वत्कीर्तिकान्ता त्रिजगति नृपते भोजराज क्षितीन्द्र॥८३॥

हे पृथ्वीपति, नरेश भोजराज, तीनों लोकों में तुम्हारी कमनीय कीर्तिरूपी कांता व्याप्त हो गयी है (परिणाम स्वरूप त्रिलोकी शुभ्र होगया है) । सो नालीक—कमल से जन्म लेने वाले ब्रह्मा नीर-क्षीर लिये समस्त पक्षियों के पास जा रहे हैं [जिससे वे नीर क्षीर विवेकी हंस को पहिचान सकें]; चक्रपाणि विष्णु [चक्र छोड़] तक्र [माठा] हाथ में लिये संपूर्ण समुद्रों में घूम रहे हैं [जिससे माठा छोड़कर वे दूध फाड़ सकें और इस प्रकार सब समुद्रों के मध्य उन सबके श्वेत हो जाने से छिप गया उनका क्षीर समुद्र मिल सके] । पशुपति शिव अपने ज्वालामय तृतीय नेत्र से देखते हुए सब ऊँचे पर्वतों को तपा रहे हैं [कि हिम पिघलने से पिघलते हुए अपने कैलास को वे पहिचान सकें) ।

विद्वद्राजशिखामणे तुलयितुं धाता त्वदीयं यशः
कैलासं च निरीक्ष्य तत्र लघुतां निक्षिप्तवापूर्तये ।
उ(१)क्षाणं तदुपर्युमासहचरं तन्मूर्ध्नि गङ्गाजलं
तस्याग्रे फणिपुङ्गवं तदुपरि स्फारं सुधादीधितिम् ॥ ८४ ॥

विद्वानों और राजाओं की चोटी में स्थित मणि स्वरूप [श्रेष्ठ] राजन्, विधाता ने तुम्हारे यश की तौल करने के निमित्त कैलास को निरखा, पर उसमें हलकापन पाकर पूरा करने के लिए उसके ऊपर नंदी को रखा, नंदी पर उमासहित महेश को बैठाया, महेश के सिर पर जलमयी गङ्गा की स्थापना की, चोटी पर नागराज को स्थित किया और अंत में सबके ऊपर कांतिमान् अमृत किरण चंद्रमा को रख दिया ।

स्वर्गाद्गोपाल कुत्र व्रजसि सुरमुने भूतले कामधेनो-
र्वत्सस्यानेतुकामस्तृणचयमधुना मुग्ध दुग्धं न तस्याः ।
श्रुत्वा श्रीभोजराजप्रचुरवितरणं व्रीडशुष्कस्तनी सा

(१) उक्षाणम्—वृषभम् ।

पढ़ा—'घी-पड़ी दाल के साथ।' [एक श्लोक के दो चरण-पूर्वार्द्ध तो हुआ, पर] उत्तरार्द्ध की स्फुरणा नहीं हुई।

ततो देवताभवनं कालिदासः प्रणामार्थमगात्। तं वीक्ष्य द्विजा ऊचुः—'अस्माकं समग्रवेदविदामपि भोजः किमपि नार्पयति। भवादृशां हि यथेष्टं दत्ते। ततोऽस्माभिः कवित्वविधानधियात्रागतम्। चिरं विचार्य पूर्वार्धमभ्यधायि, उत्तरार्धं कृत्वा देहि। ततोऽस्मभ्यं किमपि प्रयच्छति।' इत्युक्त्वा तत्पुरस्तादर्धमभाणि। स च तच्छ्रुत्वा।

'माहिषं च शरच्चन्द्रचन्द्रिकाधवलं दधि' ॥ ८६ ॥

इत्याह।

इसी बीच देवमंदिर में प्रणाम करने के लिए कालिदास आ पहुँचे। उन्हें देखकर वे ब्राह्मण बोले—'हम संपूर्ण वेदों के ज्ञाताओं को भी भोज कुछ नहीं देता, आप जैसों को यथेच्छ देता है। सो कविता बनाने की इच्छा से हमलोग यहाँ आये हैं। बहुत देर तक सोच-विचार कर [श्लोक का] पूर्वार्द्ध तो बना लिया है, उत्तरार्द्ध तुम बना दो। तो राजा हमको भी कुछ देगा।' यह कह कर कालिदास के संमुख आधा [स्वनिर्मित श्लोक] पढ़ दिया। कालिदास ने वह सुनकर उत्तरार्द्ध कह सुनाया—

'शरत् काल के चंद्र की चाँदनी के समान शुभ्र भैंस का दही भी।'

ते च राजभवनं गत्वा दौवारिकानूचुः—'वयं कवितां कृत्वा समागताः। राजानं दर्शयत' इति। ते च कौतुकाद्धसन्तो गत्वा राजानं प्रणम्य प्राहुः—

'राजमाषनिभैर्दन्तैः कटिविन्यस्तपाणयः।
द्वारि तिष्ठन्ति राजेन्द्र च्छान्दसाः श्लोकशत्रवः' ॥ ८७ ॥ इति

वे [ब्राह्मण] राज भवन में पहुँच कर द्वारपालों से बोले—'हम कविता करके आये हैं। राजा का दर्शन कराओ।' द्वारपाल कौतुक से हँसते हुए राजा को प्रणाम करके बोले—

हे राजेंद्र, राजमाँ [बड़ा काला उड़द] के समान दाँतों वाले, कमर पर [अभद्रता से] हाथ रखे, श्लोकों के शत्रु तुक्कड़ वेद पाठी द्वार पर प्रतीक्षा कर रहे हैं।

राज्ञा प्रवेशितास्ते दृष्टराजसंसदो मिलिताः सन्तः सहैव कवित्वं पठन्ति स्म। राजा तच्छ्रुत्वोत्तरार्धं कालिदासेन कृतमिति ज्ञात्वा विप्रानाह—'येन पूर्वार्धं कारितं तन्मुखात्कवित्वं कदाचिदपि न करणीयम्। उत्तरार्धस्य किञ्चिद्दीयते, न पूर्वार्धस्य।' इत्युक्त्वा प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ।

राजा के द्वारा सभा में बुला लिये गये वे पंडित राजसभा को देखकर एक साथ ही कविता पढ़ने लगे। राजा ने सुनकर जान लिया कि उत्तरार्द्ध कालिदास कृत है और ब्राह्मणों से कहा—'जिसने श्लोक का पूर्वार्द्ध बनाया है, उसके मुख से फिर कभी कविता न की जानी चाहिए। उत्तरार्द्ध के लिए कुछ दिया जाता है, पूर्वार्द्ध के लिए नहीं।' ऐसा कह कर प्रत्यक्षर लाख-लाख दिया।

तेषु च दक्षिणामादाय गतेषु कालिदासं वीक्ष्य राजा प्राह—'कवे उत्तरार्धं त्वया कृतम्' इति। कविराह—

'अधरस्य मधुरिमाणं कुचकाठिन्यं दृशोश्च तैक्ष्ण्यं च।
कवितायां परिपाकं ह्यनुभवरसिको विजानाति'॥ ८८॥

दक्षिणा लेकर उनके चले जाने पर कालिदास को देखकर राजा ने कहा—'कवि, उत्तरार्द्ध तुमने किया था?' कवि ने कहा—

अधर की माधुरी, कुच की कठोरता, नेत्रों का तीखापन और काव्य की परिपक्वता अनुभवी, रसिक व्यक्ति ही समझता है।

राजा च—'सुकवे, सत्यं वदसि।

अपूर्वो भाति भारत्याः काव्यामृतफले रसः।
चर्वणे सर्वसामान्ये स्वादुवित्केवलः कविः॥ ८९॥

सञ्चिन्त्य सञ्चिन्त्य जगत्समस्तं त्रयः पदार्था हृदयं प्रविष्टाः।
इक्षोर्विकारा मतयः कवीनां मुग्धाङ्गनापाङ्गतरङ्गितानि' ॥९०॥

राजा ने कहा—हे सुकवि, सत्य कहते हो—

भारती [वाणी] के 'काव्यरूपी अमृत फल का रस अपूर्व ही होता है; उसे चबाकर खा तो सभी सकते हैं, पर उसका स्वादवेत्ता कवि ही होता है।

समस्त जगती को बार-बार छान डालने पर केवल तीन ही पदार्थ हृदय में प्रविष्ट हुए--गन्ने का रस, कवियों की मनीषा और मुग्धा रमणियों के कटाक्षों की ऊर्मिमाला।

—:०:—

६—कविर्लक्ष्मीधरः कुविन्दश्च

ततः कदाचिद् द्वारपालकः प्रणम्य भोजं प्राह—'राजन्, द्रविडदेशात्कोऽपि लक्ष्मीधरनामा कविर्द्वारमध्यास्ते' इति। राजा 'प्रवेशय' इत्याह। प्रविष्टमिव सूर्यमिव विभ्राजमानं चिरादप्यविदितवृत्तान्तं प्रेक्ष्य राजा विचारयामास। आह च....

'आकारमात्रविज्ञानसम्पादितमनोरथाः (१)।
धन्यास्ते ये न शृण्वन्ति दीनाः क्वाप्यर्थिनां गिरः' ॥ ६१ ॥

तब फिर कभी द्वारपाल प्रणाम करके भोज से बोला--राजन्, द्रविड देश से कोई लक्ष्मीधर नाम का कवि आया है और द्वार पर उपस्थित है। राजा ने कहा--भीतर ले आओ। उसके प्रविष्ट होते ही सूर्य के तुल्य दीप्तिमान्, बहुत समय से जिसका समाचार नहीं ज्ञात हुआ हो ऐसे, उसे देखकर राजा विचारने लगा और बोला--वे मनुष्य धन्य हैं, जो कभी याचकों की दीन वाणी नहीं सुनते, आकृति देखकर ही सब समझकर याचकों के मनोरथ पूर्ण कर देते हैं।

स चागत्य तत्र राजानं 'स्वस्ति' इत्युक्त्वा तदाज्ञयोपविष्टः प्राह—'देव, इयं ते पण्डितमण्डिता सभा। त्वं च साक्षाद्विष्णुरसि। ततः किं नाम पाण्डित्यं तथापि किञ्चिद्वच्मि--

भोजप्रतापं तु विधाय धात्रा शेषैर्निरस्तैः परमाणुभिः किम्।
हरेः करेऽभून्पविरम्बरे च भानुः पयोधेरुदरे कृशानुः ॥ ६२ ॥

इति। ततस्तेन परिषच्चमत्कृता। राजा च तस्य प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ।

वह आकर और राजा से 'कल्याण हो' यह कह कर राजा की आज्ञा से बैठ गया और बोला—'देव, यह आपकी सभा पंडितों से सुशोभित है और

(१) आकारमात्रविज्ञानेन सम्पादिता मनोरथा येषान्ते इत्यर्थः।

आप तो साक्षात् विष्णु है। सो पंडिताई की तो बात ही क्या है--फिर भी कुछ कह रहा हूँ--

विधाता ने राजा भोज के प्रताप का निर्माण कर क्या थोड़े से शेष रहे परमाणुओं से इंद्र के हाथ का वज्र, आकाश मण्डल में सूर्य और समुद्र के उदर में स्थित वडवाग्नि का निर्माण किया है? (अर्थात् भोज के प्रताप के संमुख ये तेजस्वी वस्तुएँ नगण्य हैं।)।

तो इससे राजसभा चमत्कृत हो गयी। राजा ने उसे प्रत्यक्षर लक्ष दिया।

पुनः कविराह—'देव, मया सकुटुम्बेनात्र निवासाशया समागतम्।

क्षमी दाता गुणग्राही स्वामी पुण्येन लभ्यते।
अनुकूलः शुचिर्दक्षः कविर्विद्वान्सुदुर्लभः॥ ६३

इति। ततो राजा मुख्यामात्यं प्राह—'अस्मै गृहं दीयताम्' इति।

पुनः कवि ने कहा—'देव, मैं यहाँ बस जाने की आशा से कुटुंब सहित आया हूँ।

क्षमा-शील, दानी और गुणों का ग्राहक स्वामी पुण्य से प्राप्त होता है, किंतु हितकारी, पवित्र, चतुर, कवि और विद्वान् स्वामी तो अति दुर्लभ है।'

तब राजाने मुख्य मंत्री से कहा--'इन्हें घर दो।'

ततो निखिलमपि नगरं विलोक्य कमपि मूर्खममात्यो नापश्यत्, यं निरस्य विदुषे गृहं दीयते। तत्र सर्वत्र भ्रमन्कस्याचित्कुविन्दस्य गृहं वीक्ष्य कुविन्दं प्राह—'कुविन्द, गृहान्निःसर। तव गृहं विद्वानेष्यति' इति।

तदनंतर समस्त नगर को देख डालने पर भी मुख्य मत्री को कोई मूर्ख दृष्टि गोचर नहीं हुआ, जिसको हटा कर विद्वान् को घर दिया जाता। तब सर्वत्र घूमते हुए किसी कपड़े बुनने वाले [जुलाहे] का घर देख कर मंत्री ने उससे कहा--'हे बुनकर, तुम घर छोड़ दो। तुम्हारे घर में विद्वान् आयेगा।'

ततः कुविन्दो राजभवनमासाद्य राजानं प्रणम्य प्राह—देव, भवदमात्यो मां मूर्खं कृत्वा गृहान्निःसारयति, त्वं तु पश्य मूर्खः पण्डितो वेति।

काव्यं करोमि नहि चारुतरं करोमि
यत्नात्करोमि यदि चारुतरं करोमि ।
भूपालमौलिमणिमण्डितपादपीठ
हे साहसाङ्क कवयामि वयामि यामि ॥ ६४ ॥

तब बुनकर राज भवन में पहुँच कर राजा को प्रणाम करके बोला—'महाराज, आपका मंत्री मुझे मूर्ख समझ कर घर से निकाल रहा है, तो तू देख कि मैं मूर्ख हूँ या पंडित—

काव्य रचता हूँ, पर सुंदर नहीं रचता और यदि प्रयत्नपूर्वक रचता हूँ तो सुंदर भी रच लेता हूँ। राजाओं की मुकुट मणियों से सुशोभित चरण पीठ वाले हे महावीर, मैं कविता करता हूँ और बुनाई करता हूँ; और (अब) जाता हूँ।'

ततो राजा त्वङ्कारवादेन वदन्तं कुविन्दं प्राह—'ललिता ते पदपङ्क्तिः, कविता माधुर्यं च शोभनम्, परन्तु कवित्वं विचार्य वक्तव्यम्' इति। ततः कुपितः कुविन्दः प्राह 'देव अत्रोत्तरं भाति किन्तु न वदामि। राजधर्मः पृथग्विद्वद्धर्मान्' इति। राजा प्राह—'अस्ति चेदुत्तरं ब्रूहि' इति।

तब राजा ने 'तू' शब्द से संबोधित करने वाले बुनकर से कहा—'तेरे पद की पंक्ति ललित है, कवितामाधुरी भी सुंदर है, परंतु काव्य विचार करके सुनाना चाहिए।' तब कुपित हो बुनकर बोला—'महाराज, मुझे इसका उत्तर आता है, परंतु कह नहीं रहा हूँ। राजा का धर्म विद्वान् के धर्म से भिन्न है।' राजा ने कहा—'यदि है तो उत्तर दे।'

कुविन्दः प्राह—'देव, कालिदासादृतेऽन्यं कविं न मन्ये। कोऽस्ति ते सभायां कालिदासादृते कवितातत्त्वविद्विद्वान्।

यत्सारस्वतवैभवं गुरुकृपापीयूषपाकोद्भवं
तल्लभ्यं कविनैव नैव हठतः पाठप्रतिष्ठाजुषाम्।
कासारे दिवसं वसन्नपि पयःपूरं परं पङ्किलं
कुर्वाणः कमलाकरस्य लभते किं सौरभं (१) सैरिभः ॥ ६५ ॥

(१) "लुलायो महिषो वाहद्विषत्कासरसैरिभाः" इत्यमरात् महिष इत्यर्थः।

अयं मे वाग्गुम्फो विशदपदवैदग्ध्यमधुरः
स्फुरद्बन्धोवन्ध्यः परहृदि कृतार्थः कविहृदि ।
कटाक्षो वामाक्ष्या दरदलितनेत्रान्तगलितः
कुमारे निःसारः स तु किमपि यूनः सुखयति ॥९६॥ इति ।

बुनकर बोला—'देव, मैं कालिदास के अतिरिक्त किसी को कवि नहीं मानता। तेरी सभा में काव्य के मर्म को जानने वाला विद्वान् कालिदास के अतिरिक्त कौन है ?

गुरु-कृपारूपी अमृतपाक से उत्पन्न जो सरस्वती वैभव (काव्य) है, वह कवि को ही प्राप्त होता है, हठपूर्वक कविता पाठ करके प्रतिष्ठा पालने वालों को नहीं। तालाब में दिन भर लोट कर भी केवल सलिल-प्रवाह गँदला करने वाला भैंसा क्या कमलों की सुगंध प्राप्त कर पाता है ?

उत्तम पदों की विद्वत्तापूर्ण योजना से मधुर, छंदो लालित्य प्रकट करता मेरा काव्यबंध कवि के हृदय को आकृष्ट कर कृतार्थ होता है, अतिरिक्त जन के निकट वह व्यर्थ होता है। अधखुले नयनों की कोर से अद्भुत तिरछे नयनों वाली सुंदरी का कटाक्ष बालक के निकट सारहीन रहता है किंतु तरुण को वह आनंद देता है।

विद्वज्जनवन्दिता सीता प्राह—

विपुलहृदयाभियोग्ये खिद्यति काव्ये जडो न मौर्ख्ये स्वे ।
निन्दति कञ्चुकमेव प्रायः शुष्कस्तनी नारी ॥ ९७ ॥

विद्वानों द्वारा पूजित सीता ने कहा—मूर्ख अपनी मूर्खता पर तो खिन्न नही होता, सहृदयों द्वारा गम्य सत्काव्य पर खिन्न होता है। शुष्क स्तन वाली स्त्री प्रायः चोली की ही निंदा किया करती है।

ततः कुविन्दः प्राह—

बाल्ये सुतानां स्तुतौ कवीनां समरे भटानाम् ।
त्वंकारयुक्ता हि गिरः प्रशस्ताः कस्ते प्रभो मोहभरः स्मर त्वम् ॥ ९८ ॥

ततो राजा 'साधु भोः कुविन्द' इत्युक्त्वा तस्याक्षरलक्षं ददौ। 'मा भैषीः, इति पुनः कुविन्दं प्राह।

तब बुनकर ने कहा—
'हे स्वामी, आपको ऐसा मोह कैसे उत्पन्न हुआ? स्मरण कीजिए—बाल्यावस्था में पुत्रों की, सुरतकाल में स्त्रियों की, स्तुति करते समय कवियों की और युद्ध में योद्धाओं की एकवचन युक्त 'तू'—वाली बोली ही प्रशंसनीय होती है।'

तब राजा ने सुंदर, हे कुविंद, सुंदर'—ऐसा कह कर उसे प्रत्यक्षर एक लाख दिया और फिर उस बुनकर से कहा—'जा, निर्भय रह।'

—:०:—

७—रात्रौ राज्ञो नगर-भ्रमणम्

एवंक्रमेणातिक्रान्ते कियत्यपि काले बाणः पण्डितवरः परं राज्ञा मान्यमानोऽपि प्राक्तनकर्मतो दारिद्र्यमनुभवति। एवं स्थिते नृपतिः कदाचिद्रात्रावेकाकी प्रच्छन्नवेषः स्वपुरे चरन्बाणगृहमेत्यातिष्ठत्। तदा (१) निशीथे बाणो दारिद्र्याद्व्याकुलतया कान्तां वक्ति-'देव, राजा कियद्वारं मम मनोरथमपूरयत्। अद्यापि पुनः प्रार्थितो दादत्येव। परन्तु निरन्तरप्रार्थनारसे मूर्खस्यापि जिह्वा जडीभवति।' इत्युक्त्वा मुहूर्तार्धं मौनेन स्थितः।

इसी प्रकार धीरे-धीरे कुछ समय व्यतीत होने पर राजा के द्वारा परम संमानित होने पर भी पंडितवर बाण पूर्व जन्म के कर्म के कारण दरिद्रता भोग रहे थे। ऐसी ही दशा मे कभी रात में अकेले वेष बदल कर अपनी नगरी में घूमते-फिरते राजा बाण के घर पहुँच रुक गये। तभी रात में दरिद्रता के कारण व्याकुल बाण ने पत्नी से कहा—'राजा ने कितनी बार मेरा मनोरथ पूर्ण किया। आज भी फिर प्रार्थना करने पर देता ही है। किंतु निरन्तर प्रार्थना में लगे रहते मूर्ख की जीभ जड़ हो जाती है। ऐसा कह कर आधे मूहूर्त तक चुप बैठा रहा।

पुनः पठति—

हर हर पुरहर परुषं क हलाहलफल्गु याचनावचसोः।
एकैव तव रसज्ञा तदुभयरसतारतम्यज्ञा ॥ ९९ ॥

देवि,

---

(१) अर्द्धरात्रे।

दारिद्र्यस्यापरा मूर्तिर्याच्ञा न द्रविणाल्पता ।
अपि कौपीनवाञ्शंभुस्तथापि परमेश्वरः ॥ १०० ॥

सेवा सुखानां व्यसनं धनानां याच्ञा गुरूणां कुनृपः प्रजानाम् ।
प्रणष्टशीलस्य सुतः कुलानां मूलावघातः कठिनः कुठारः ॥ १०१ ॥

ततसत्यपि दारिद्र्ये राज्ञो वक्तुं मया स्वयमशक्यम् ।

यच्छन्क्षणमपि जलदो वल्लभतामेति सर्वलोकस्य ।
नित्यप्रसारितकरः करोति सूर्योऽपि सन्तापम् ॥ १०२ ॥

किं च देवि, वैश्वदेवावसरे प्राप्ताः क्षुधार्ताः पश्चाद्यान्तीति तदेव मे हृदयं दुनोति ।

दारिद्र्यानलसन्तापः शान्तः सन्तोषवारिणा ।
याचकाशाविघातान्तर्दाहः केनोपशाम्यते ॥ १०३ ॥

पुनः पढ़ने लगा—

हे त्रिपुरारि शिव शंकर, हलाहल विष और व्यर्थ चले जाते याचना के वचन—इन दोनों में कौन अधिक तीक्ष्ण है, यह दोनों के तारतम्य—न्यूनाधिकता—को जानने वाली तुम्हारी रसना [जीभ] ही बता सकती है ।

हे देवि,

दरिद्रता की दूसरी मूर्ति याचना होती है, धन की न्यूनता नहीं; शिव शंभु कौपीन धारी ही है, फिर भी परमेश्वर [कहे जाते] है ।

चाकरी सुखों को, व्यसन धनको, याचना गौरव को, कुनृपति प्रजा को और शीलहीन व्यक्ति का पुत्र कुल को जड़ से काटने वाला कठोर कुल्हाड़ा होता है ।

सो दरिद्रता होने पर भी मेरा राजा से स्वयम् कुछ कहना असंभव है । क्षण भर भी दान करता जलद—बादल संपूर्ण लोक का प्रिय हो जाता है और सदा कर [किरण रूपी हाथ] फैलाये सूर्य भी संतापकारी होता है ।

परंतु हे देवि, गृहस्थ कर्म बलिवैश्वदेव के अवसर पर आये भूख से पीडित जन भी [मेरे द्वार से] वापस चले जाते हैं, वही मेरे हृदय को पीडित करता है ।

दरिद्रता रूपी आग की जलन तो संतोष के जल से शांत हो गयी है, किंतु माँगनेवालों की आशा नष्ट कर देने से जो अंतर्दाह है, उसका उपशमन किसके द्वारा हो ?

राजा चैतत्सर्वं श्रुत्वा 'नेदानीं किमपि दातुं योग्यः। प्रातरेव वाणं पूर्णमनोरथं करिष्यामि।' इति निष्क्रान्तो राजा—

'कृतो यैर्न च वाग्मी च व्यसनी तं न यैः पदम्।
यैरात्मसदृशो नार्थी किं तैः काव्यैर्बलैर्धनैः' ॥ १०४ ॥

राजा ने यह सब सुनकर विचारा कि इस समय तो मैं इसे कुछ देने योग्य हूँ नहीं, प्रातः काल इसका मनोरथ पूर्ण करूँगा—और चला गया—

जिस काव्य ने मनुष्य को वक्तृत्व कला में निपुण नहीं बनाया, जिस बल ने किसी को अधीन—स्ववश—नहीं किया और जिस धन ने याचक को अपने समान (धनी) नहीं कर दिया, वह काव्य, बल और धन व्यर्थ है ।

एवं पुरे परिभ्रममाणो राजनि वर्त्मनि चोरद्वयं गच्छति। तयोरेकः प्राह शकुन्तः—'सखे, स्फारान्धकारविततेऽपि जगत्यञ्जनवशात्सर्वं परमाणुप्रायमपि वस्तु सर्वत्र पश्यामि। परन्तु सम्भारगृहानीतकनकजातमपि न मे सुखाय' इति।

जब राजा इस प्रकार नगर में भ्रमण करते फिर रहे थे, तो मार्ग में दो चोर जा रहे थे। उनमें से एक शकुंत नामक चोर बोला—'मित्र, जगत् में घोर अँधेरा फैला होने पर भी अंजन लगा होने के कारण परमाणु जैसी भी छोटी सब वस्तुएँ सर्वत्र देख पा रहा हूँ किंतु कोषागार से चुरा लिया हुआ स्वर्ण भी मुझे सुख नहीं दे रहा है।'

द्वितीयो मरालनामा चोर आह—'आहृतं सम्भारगृहात्कनकजातमपि न हितमिति कस्माद्धेतोरुच्यते' इति। ततः शकुन्तः प्राह—'सर्वतो नगररक्षकाः परिभ्रमन्ति। सर्वोऽपि जागरिष्यत्येषां भेरीपटहादीनां निनादेन। तस्मादाहृतं विभज्य स्वस्वभागगतं धनमादाय शीघ्रमेव गन्तव्यम्' इति।

दूसरे मराल नाम के चोर ने कहा—'खजाने से चुरा लाया गया सोना भी अच्छा नहीं लगता—ऐसा किस कारण से कहते हो?' तो शकुंत बोला—

'चारों ओर नगर रक्षक घूम रहे हैं। इन नगाड़ों और पटहों के शब्द से सब जग जायेंगे। सो चुराये [माल] को बाँट कर अपने-अपने भाग में आये धन को लेकर शीघ्र ही चला जाना उचित होगा।'

मरालः प्राह—'सखे, त्वमनेन कोटिद्वयपरिमितमणिकनकजातेन किं करिष्यसि' इति।

मराल ने पूछा—'मित्र, तू इस दो करोड़ परिमाण के मणि और सोने से क्या करेगा ?

शकुन्तः—'एतद्धनं कस्मैचिद्द्विजन्मने दास्यामि यथायं वेदवेदाङ्गपारगोऽन्यं न प्रार्थयति।'

शकुंत—यह धन किसी ब्राह्मण को दे दूँगा कि वह वेद और वेदांग का पारंगत होकर किसी और से न माँगेगा।

मरालः—'सखे चारु।

दददतो युध्यमानस्य पठतः पुलकोऽथ चेत्।
आत्मनश्च परेषां च तद्दानं पौरुषं स्मृतम्॥ १०५॥

अनेन दानेन तव कथं पुण्यफलं भविष्यति।'

मराल—'मित्र, सुंदर। दान करते, युद्ध करते और काव्य पाठ करते समय यदि अपने और दूसरो के रोंगटे खड़े हो जायँ तभी वह दान, पराक्रम और पाठ कहा जाता है।

तो इस [चोरी के] दान से तुमको पुण्यफल कैसे मिलेगा ?'

शकुन्तः—'अस्माकं पितृपैतामहोऽयं धर्मः, यच्चौर्येण वित्तमानीयते'

शकुंत—'चोरी से धनार्जन तो हमारे बाप-दादा से चला आया धर्म है।'

मरालः—'शिरश्छेदमङ्गीकृत्यार्जितं द्रव्यं निखिलमपि कथं दीयते।'

मराल—'सिर कटाना स्वीकार करके कमाया हुआ सब धन क्यों दान करते हो ?'

शकुन्तः—मूर्खो नहि ददात्यर्थं नरो दारिद्र्यशङ्कया।
प्राज्ञस्तु वितरत्यर्थं नरो दारिद्र्यशङ्कया'॥ १०६॥

शकुंत—'मूर्ख मनुष्य दरिद्रता की शंका से धन-दान नहीं करता और बुद्धिमान् पुरुष भविष्य में आनेवाली दरिद्रता के निवारणार्थ धन वितरण कर देता है।'

मरालः—'किञ्चिद्वेदमयं पात्रं किञ्चित्पात्रं तपोमयम्।
पात्राणामुत्तमं पात्रं शूद्रान्नं यस्य नोदरे' ॥ १०७ ॥

मराल—वेद पाठी कुछ दान का पात्र होता है और कुछ तपस्वी दान के योग्य होता है, दान पाने का उत्तम पात्र वह है, जिसके पेट में निकृष्ट अन्न नहीं होता।'

शकुन्तः – 'अनेन वित्तेन किं करिष्यति भवान्।'

शकुन्त—'आप इस धन का क्या करेंगे ?'

मरालः – सखे, काशीवासी कोऽपि विप्रवटुरत्रागात्। तेनास्मत्पितुः पुरः काशीवासफलं व्यावर्णितम्। ततोऽस्मत्तातो बाल्यादारभ्य चौर्यं कुर्वाणो दैववशात्स्वपापान्निवृत्तो वैराग्यात्सकुटुम्बः काशीमेष्यति। तदर्थमिदं द्रविणजातम्।'

मराल—'मित्र, एक काशी का रहनेवाला ब्राह्मण विद्यार्थी यहाँ आया। उसने मेरे पिता के संमुख काशीवास के फल का वर्णन किया। सो बचपन से चोरी करनेवाले मेरे पिता दैववश अपने पाप से निवृत्त हो वैराग्य के कारण सकुटुम्ब काशी जायेंगे। यह सब धन उसी निमित्त है।'

शकुन्तः—'महद्भाग्यं तव पितुः। तथा हि—

वाराणसीपुरीवासवासनावासितात्मना।
किं शुना समतां याति वराकः पाकशासनः ॥ १०८ ॥
ऊपरं कर्मसस्यानां क्षेत्रं वाराणसी पुरी।
यत्र सँल्लभ्यते मोक्षः समं चाण्डालपण्डितैः ॥ १०९ ॥
मरणं मङ्गलं यत्र विभूतिश्च विभूषणम्।
कौपीनं यत्र कौशेयं सा काशी केन मीयते ॥ ११० ॥

शकुंत—'तेरा पिता बड़ा भाग्यशाली है। जैसा कि है—

वाराणसी नगरी में निवास करने की इच्छा जिसके हृदय में व्याप्त है, उस कुत्ते की समता में क्या बेचारा इन्द्र आ सकता है ?

वाराणसी नगरी कर्म रूपी खेती के लिए ऊसर हैं (कर्म फल के बंधन से मुक्त), जहाँ कि चंडाल और ब्राह्मण—दोनों ही समान रूप में मोक्ष प्राप्त करते है।

जहाँ मृत्यु प्राप्त होना मंगल है, भस्म आभूषण है और जहाँ कौपीन ही पाटांबर है, उस काशी की समता किससे हो सकती है ?'

एवमुभयोः संवादं श्रुत्वा राजा तुतोष। अचिन्तयच्च मनसि—'कर्मणां गतिः सर्वथैव विचित्रा उभयोरपि पवित्रा मतिः' इति।

ततो राजा विनिवृत्त्य भवनान्तरे पितृपुत्रावपश्यत्। तत्र पिता पुत्रं प्राह—'इदानीं परिज्ञातशास्त्रतत्त्वोऽपि नृपतिः कार्पण्येन किमपि न प्रयच्छति। किंतु—

अर्थिनि कवयति कवयति पठति च पठति स्तवोन्मुखे स्तौति।
पश्चाद्यामीत्युक्ते मौनी दृष्टिं निमीलयति' ॥ १११ ॥

राजाप्येतच्छ्रुत्वा तत्समीपं प्राप्य 'मैवं वद' इति स्वगात्रात्सर्वाभरणान्युत्तार्य ददौ तस्मै।

इस प्रकार दोनों का वार्तालाप सुन कर राजा संतुष्ट हुआ और मन में सोचने लगा—'कर्मगति सब प्रकार से विचित्र होती है। दोनों की ही मति पवित्र है।'

तदनन्तर राजा ने उस स्थान से हट कर एक अन्य गृह में पिता-पुत्र को देखा। वहाँ पिता ने कहा—'आजकल शास्त्रमर्म का परिज्ञानी भी राजा कृपणता के कारण कुछ देता नहीं, परं च—

याचक (कवि) के कविता करने पर कविता कर देता है, काव्यपाठ करने पर स्वयम् भी पढ़ देता है और प्रशंसा करने पर प्रशंसा कर देता है, किन्तु बाद में कवि के 'जाता हूँ' कहने पर चुपचाप आँखें मूँद लेता है।

राजा यह सुन उसके समीप जाकर बोला कि ऐसा न कहो, और अपने शरीर से सब आभूषण उतार कर उसे दे दिये।

—: ० :—

८—क्रीडाचन्द्रः

ततो गृहमासाद्य कालान्तरे सभामुपविष्टः कालिदासं प्राह—'सखे,

'कवीनां मानसं नौमि तरन्ति प्रतिभाम्भसि।'

ततः कविराह—

'यत्र हंसवयांसीव भुवनानि चतुर्दश' ॥ ११२ ॥

ततो राजा प्रत्यक्षरमुक्ताफललक्षं ददौ ।

फिर घर पहुँच कर कुछ समय पश्चात् सभा में बैठा राजा कालिदास से बोला—'मित्र,

'कवियों के मानसरूपी मन को नमस्कार, जिसके प्रतिभा-जल में तिरते है। तब कवि ने कहा (पूर्त्ति कर दी)—

''चौदहों भुवन हंस के बच्चों जैसे।' तब राजा ने प्रत्यक्षर लाख-लाख मोती दिये।

ततः प्रविशति द्वारपालः— देव, कोऽपिकौपीनावशेषो विद्वान्द्वारि तिष्ठति' इति। राजा—'प्रवेशय।' ततः प्रवेशितः कविरागत्य 'स्वस्ति' इत्युक्त्वानुक्त एवोपविष्टः प्राह—

इह निवसति मेरुः शेखरो भूधराणा-
मिह हि निहितभाराः सागराः सप्त चैव ।
इदमतुलमनन्तं भूतलं भूरिभूतो-
द्भवधरणसमर्थं स्थानमस्मद्विधानाम् ॥ ११३ ॥

तदनन्तर द्वारपाल ने प्रवेश किया (और कहा)—'देव, कौपीन मात्र धारण किये एक विद्वान् द्वार पर प्रतीक्षा कर रहा है।' राजा ने कहा—'भीतर ले आओ।' तब प्रवेशित कवि ने आकर कहा—'स्वस्ति' और बिना किसी के कहे ही बैठ गया और बोला—

'इस ओर पर्वतों में श्रेष्ठ सुमेरु स्थित है और इधर ही पूर्ण भार युक्त सातों समुद्र हैं, यह अतुलनीय, अन्त हीन, प्रभूत प्राणियों की उत्पत्ति और उनका पालन-पोषण करने में समर्थ भूतल हम जैसे व्यक्तियों का स्थान है।'

राजा—'महाकवे, किं ते नाम ? अभिधत्स्व ।

राजा—'महाकवे, तुम्हारा नाम क्या है ? बताओ।'

कविः—'नामग्रहणं नोचितं पण्डितानाम् । तथापि वदामो यदि जानासि ।

नहि स्तनन्धयी बुद्धिर्गम्भीरं गाहते वचः ।
तलं तोयनिधेर्द्रष्टुं यष्टिरस्ति न वैणवी ॥ ११४ ॥

देव, आकर्णय—

च्युतामिन्दोर्लेखां रतिकलहभग्नं च वलयं
समं चक्रीकृत्य प्रहसितमुखी शैलतनया।
अवोचद्यं पश्येत्यवतु गिरिशः सा च गिरिजा
स च क्रीडाचन्द्रो दशनकिरणापूरिततनुः ॥ ११५ ॥

कवि—'पंडितों को अपना नाम लेना उचित नहीं होता, तथापि बताता हूँ, यदि समझ सको।

दूध पीते बच्चों की बुद्धि गंभीर वचन की थाह नहीं पा पाती, जलनिधि के तल को देखने के लिए बाँस की लाठी नहीं होती।

देव, सुनिए—

रतिकलह में गिरी चंद्रमा की कला और टूटे कंगन को जोड़ गोलाकार चक्र जैसा बनाकर हँसती हुई पर्वतपुत्री ने शिव से कहा—'यह देखो! (तो देखनेवाले) वह कैलासशायी शिव और वह गिरि सुता और वह दंतकांति समान किरणों से परिपूरित क्रीडाचन्द्र आपकी रक्षा करे।'

कालिदासः—'सखे क्रीडाचन्द्र, चिराद्दृष्टोऽसि। कथमीदृशी ते दशा मण्डले विराजत्यपि राजनि बहुधनवति ?'

कालिदास (ने कहा)—'मित्र क्रीडाचन्द्र, बहुत समय बाद दीखे हो प्रभूत धनवान् राजाओं के रहने पर भी तुम्हारी यह कैसी दशा है ?'

क्रीडाचन्द्रः—

धनिनोऽप्यदानविभवा गण्यन्ते धुरि महादरिद्राणाम्।
हन्ति न यतः पिपासामतः समुद्रोऽपि मरुरेव ॥ ११६ ॥

क्रीडाचन्द्र—'जो अपनी सम्पत्ति का दान नहीं करते, ऐसे धनी भी महादरिद्रों में ऊँचे स्थान पर गिने जाते हैं। क्योंकि प्यास नहीं बुझाता इसलिये समुद्र भी मरुस्थल ही है।

किं च—

उपभोग(१)कातराणां पुरुषाणामर्थसञ्चयपराणाम्।
कन्यामणिरिव सदने तिष्ठत्यर्थः परस्यार्थे ॥ ११७ ॥

(१) उपभोगे कातराः भीता। उपभोगमकुर्वाणा इति यावत्।

सुवर्णमणिकेयूराडम्बरैरन्यभूभृतः ।
कलयैव पदं भोज तेषामाप्नोति सारवित् ॥ ११८ ॥
सुधामयानीव सुधां गलन्ति विदग्धसंयोजनमन्तरेण ।
काव्यानि निर्व्याजमनोहराणि वाराङ्गनानामिव यौवनानि ॥ ११९ ॥
ज्ञायते जातु नामापि न राज्ञः कवितां विना ।
कवेस्तद्व्यतिरेकेण न कीर्तिः स्फुरति क्षितौ ॥ १२० ॥

और भी है—उपभोग करने में डरनेवाले (कंजूस), धन इकट्ठा करने में लगे हुए पुरुषों का धन घर में कन्यारूपी मणि के समान दूसरे के लिए ही रहता है।

हे भोज, अन्य राजा स्वर्ण, मणि और केयूर के आडम्बरों के कारण जिस स्थान को प्राप्त करते हैं, उनके उस स्थान को तत्त्ववेत्ता कला के द्वारा ही प्राप्त कर लेते हैं।

अमृत से परिपूर्ण-जैसे स्वभावतया मनोहर काव्य, मर्मज्ञ विद्वान् के संयोग के विना अपने अमृतरस को वाराङ्गणाओ के यौवन की भाँति व्यर्थ गला देते हैं।

कविता के विना राजाओं का नाम भी नहीं जाना जाता और राजा से व्यतिरिक्त हो (राज के अभाव में) कवि का यश धरती पर नहीं फैलता।'

मयूरः—

'ते वन्द्यास्ते महात्मानस्तेषां लोके स्थिरं यशः ।
यैर्निबद्धानि काव्यानि ये च काव्ये प्रकीर्तिताः' ॥ १२१ ॥

मयूर—जिन्होंने काव्य-रचना की और जिनका काव्य में वर्णन हुआ वे वंदनीय हैं वे महात्मा हैं और उन्हीं का यश संसार में स्थिर हैं।

वररुचिः—

'पदव्यक्तिव्यक्तीकृतसहृदयावन्धललिते
कवीनां मार्गेऽस्मिन्स्फुरति बुधमात्रस्य धिषणा ।
न च क्रीडालेशव्यसनपिशुनोऽयं कुलवधू-
कटाक्षाणां पन्थाः स खलु गणिकानामविषयः' ॥ १२२ ॥

वररुचि-पदों द्वारा व्यक्त, सहृदयजन के आस्वादन के निमित्त साधारणी कृत प्रसंग-योजना के कारण ललित चरण रखे जाने से बन गये चिह्नों के कारण सज्जनों के लिए जिसमें दिशा का निर्देश स्पष्ट है, ऐसे मार्ग के समान कवियों के इस मार्ग में (काव्य में) पंडितों की ही बुद्धि स्फुरित होती है। यह पंथ कुलकामिनियों के कटाक्षों का पंथ है, जो थोड़े से क्रीडाविलास का व्यसनी होने पर भी निन्दनीय नहीं माना जाता। यह गणिकाओं का विषय नहीं है। भाव यह है कि काव्य का रस, रसिक सहृदय पंडितों द्वारा ही संवेद्य होता है। उसकी एक मर्यादित, सुनिश्चित योजना है, कुलकामिनियों के मर्यादित कटाक्ष-विलास के समान। वह काव्य जिस तिसके प्रति किये गये वारवनिताओं के कटाक्ष की भाँति नहीं होता।

राजा क्रीडाचन्द्राय विंशतिगजेन्द्रान्ग्रामपञ्चक च ददौ। ततो राजानं कविः स्तौति—

'कङ्कणं नयनद्वन्द्वे तिलक करपल्लवे।
अहो भूषणवैचित्र्यं भोजप्रत्यर्थियोपिताम्' ॥ १२३ ॥

तुष्टो राजा पुनरक्षरं लक्षं ददौ।

राजा ने क्रीडाचंद्र को बीस हाथी और पाँच गाँव दिये। तब कविने राजा की प्रशंसा की—

भोज के शत्रुओं की स्त्रियों के आभूषण पहिनने की रीति अनोखी है—दोनों नेत्रों में उन्होंने कंगन पहिने हैं (आँसू) और करपल्लवों में तिलक (मृतपतियों के तर्पण के निमित्त तिल)। भावार्थ यह कि शत्रु-स्त्रियाँ आँखों में आँसू भरे हाथ में तिल लेकर मृतपतियों का तर्पण कर रही है। ये आँसू नेत्रों के कंगन हैं और हाथ के तिल तिलक।

संतुष्ट होकर राजाने पुनः प्रत्यक्षर लाख मुद्राएँ दी।

—:o:—

९—रामेश्वरकवेरन्यसभाकवीनाञ्च सत्कारः

ततः कदाचित्कोऽपि जराजीर्णसर्वाङ्गसन्धिः पण्डितो रामेश्वर-नामा सभामभ्यगात्। स चाह—

पञ्चाननस्य सुकवेर्गजमांसैर्नृपश्रिया ।
पारणा जायते क्वापि सर्वत्रैवोपवासिनः ॥ १२४ ॥
वाहानां पण्डितानां च परेषामपरो जनः ।
कवीन्द्राणां गजेन्द्राणां ग्राहको नृपतिः परः ॥ १२५ ॥

तदनंतर कभी वृद्धावस्थाके कारण जिसके अंगों के सब जोड़ शिथिल हो चले हैं, ऐसा कोई रामेश्वर नाम का पंडित सभा में पहुँचा और बोला—

सब स्थानों पर उपासे (भूखे) रहजानेवाले पंचानन सिंह की पारणा (व्रतांत भोजन) हाथी के माँस से और कविकी पारणा (तृप्ति) राज-संपत्ति से होती है ।

घोड़ों और अन्य पंडितों का ग्राहक अन्य जन हो सकता है किन्तु कवि-राजों और गजराजों का ग्राहक राजा ही होता है ।

एवं हि—

सुवर्णैः पट्टचेलैश्च शोभा स्याद्वारयोषिताम् ।
पराक्रमेण दानेन राजन्ते राजनन्दनाः । १२६ ॥

इत्याकर्ण्य राजा रामेश्वरपण्डिताय सर्वाभरणान्युत्तार्य लक्षद्वयं प्रायच्छत् ।

ततःस्तौति कविः—

भोज त्वत्कीर्तिकान्ताया नभोभालस्थितं महत् ।
कस्तूरीतिलकं राजन्गुणाकर विराजते ॥ १२७ ॥
बुधाग्रे न गुणान्ब्रूयात्साधु वेत्ति यतः स्वयम् ।
मूर्खाग्रेऽपि च न ब्रूयाद्बुधप्रोक्तं न वेत्ति सः ॥ १२८ ॥

तेन चमत्कृताः सर्वे ।

ऐसे ही—स्वर्णभूषणों और पाटांबरों से वेश्याओं की शोभा होती है; राजपुत्र तो पराक्रम और दान से सुशोभित होते हैं । यह सुनकर राजाने रामेश्वर पंडित को उतार कर सारे आभूषण और दो लाख दिये ।

तब कवि ने स्तुति की—हे गुणों के भांडार भोजराज, आपकी कीर्तिरूपी सुंदरी पत्नी का विशाल तिलक आकाशरूपी माथे पर स्थित हो सुशोभित हो रहा है अर्थात् आपका यश नभोमंडल तक फैला है ।

बुद्धिमान के संमुख स्वगुण कीर्तन उचित नहीं होता, क्यों कि वह तो स्वयं भली भाँति जानता ही है। मूर्ख के आगे भी गुणकथन उचित नहीं क्यों कि वह बुद्धिमान का कहा समझेगा ही नहीं।

उसने सब को चमत्कृत कर दिया।

रामेश्वरकविः—

'ख्यातिं गमयति सुजनः सुकविर्विदधाति केवलं काव्यम्।
पुष्णाति कमलमम्भो लक्ष्म्या तु रविर्नियोजयति' ॥ १२९ ॥

ततस्तुष्टो राजा प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ।

कवि रामेश्वर ने सुनाया—

सुकवि तो केवल काव्य रचता है, सज्जन उससे प्रसिद्धि प्राप्त करता है। जल कमल का केवल पोषण करता है परंतु सूर्य उसे लक्ष्मी (शोभा, विकास) से युक्त करता है।

तब संतुष्ट राजा ने प्रत्यक्षर एक लाख मुद्राएँ दी।

राजेन्द्रं कविः प्राह—

'कवित्वं न शृणोत्येव कृपणः कीर्तिवर्जितः।
नपुंसकः किं कुरुते पुरःस्थितमृगीदृशा' ॥ १३० ॥

कविराज भोज से बोला—

यशोहीन कृपण, काव्य सुनता ही नहीं, नपुंसक पुरुष संमुख बैठी मृगनयना के साथ क्या करता है?

सीता प्राह—

'हता दैवेन कवयो वराकास्ते गजा अपि।
शोभा न जायते तेषां मण्डलेन्द्रगृहं विना' ॥ १३१ ॥

सीता ने कहा—

भाग्य ने उन बेचारे कवियों और हाथियों को भी मार डाला (जिन्हे राजाश्रय नहीं मिला)। मंडलाधीश के घर को छोड़ उनकी शोभा नहीं होती।

कालिदासः—

'अदातृमानसं क्वापि न स्पृशन्ति कवेर्गिरः।
दुःखायैवातिवृद्धस्य विलासास्तरुणीकृताः' ॥ १३२ ॥

कालिदास--कवि की वाणी (कविता) न देनेवाले दाता के मन को छू भी नहीं पाती है। तरुणी के द्वारा किये गए विलास बहुत बूढ़े पुरुष को दुःख ही देते हैं।

राजा प्रतिपण्डितं लक्षं दत्तवान्।

राजा ने प्रत्येक पंडित को लाख-लाख मुद्राएँ दीं।

--:०:--

१०--कालिदासस्य कलङ्कनिवारणम्,

ततः कदाचिद्राजा समस्तादपि कविमण्डलादधिकं कालिदासमवलोक्यायान्तं परं वेश्यालोलत्वेन चेतसि खेदलवं चक्रे। तदा सीता विद्वद्वृन्दवन्दिता तदभिप्रायं ज्ञात्वा प्राह--'देव'

दोषमपि गुणवति जने दृष्ट्वा गुणरागिणो न खिद्यन्ते।
प्रीत्यैव शशिनि पतितं पश्यति लोकः कलङ्कमपि ॥ १३३ ॥

तुष्टो राजा सीतायै लक्षं ददौ।

तदनंतर कभी राजा ने संपूर्ण कविमंडली से भी अधिक महत्त्व शाली कालिदास को आता देखकर परन्तु मन में उनकी वेश्यालोलुपता विचाकर थोड़ी-सी खिन्नता का अनुभव किया। तब विद्वज्जनद्वारा वंदिता सीता ने राजा का अभिप्राय समझ कर कहा--

गुणानुरागी मनुष्य गुणवान व्यक्ति में दोप भी देख कर खिन्न नहीं होते, संसार चंद्रमा में लगे कलंक को उसके प्रति प्रीति के कारण ही देख लेता है।

तब संतुष्ट हो राजा ने सीता को लाख लिये।

तथापि कालिदासं यथापूर्वं न मानयति यदा, तदा स च कालिदासो राज्ञोऽभिप्रायं विदित्वा तुलामिषेण प्राह—

'प्राप्य प्रमाणपदवीं को नामास्ते तुलेऽवलेपस्ते।
नयसि गरिष्ठमधस्तात्तदितरमुच्चैस्तरांकुरुषे' ॥ १३४ ॥

तो भी राजा पहिले के समान कालिदास का संमान नहीं करता यह बात समझ कर कालिदास ने तुला (तराजू) के व्याज से कहा—

हे तुले, प्रमाण का पद (छोटा-बड़ा बताने का काम, मूल्यांकन) को प्राप्त करके यह तेरी कैसी उद्धतता है कि तू भारी (गौरवास्पद) को नीचे ले जाती है (निम्न घोषित करती है) और हलके (सारहीन) को ऊपर (संमाननीय) उठा देती है।

पुनराह--

'यस्यास्ति सर्वत्र गतिः स कस्मात्स्वदेशरागेण हि याति खेदम्।
तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति' ॥१३५॥

फिर कहा--जिसकी गति सर्वत्र समान है (जो सब स्थानों में मान पाने योग्य है), वह स्वदेश-प्रेम के कारण क्यों कष्ट उठाये ? 'यह पिता का कुआ है--' ऐसा विचार कर कायर जन ही खारा जल पिया करते हैं।

ततो राज्ञा कृतामवज्ञां मनसि विदित्वा कालिदासो दुर्मना निजवेश्म ययौ।

अवज्ञास्फुटितं प्रेम समीकर्तुं क ईश्वरः।
सन्धिं न याति स्फुटितं लाक्षालेपेन मौक्तिकम् ॥ १३६ ॥

तदनंतर राजा द्वारा की गयी अवज्ञा (अवहेलना) को मन ही मन समझ दुःखी कालिदास अपने घर चला गया।

अवहेलना से भग्न प्रेम को जोड़ने में कौन समर्थ होता हैं ? टूटा मोती लाख लगाने से नहीं जुड़ता।

ततो राजापि खिन्नः स्थितः। ततो लीलावती खिन्नं दृष्ट्वा राजानं विषादकारणमपृच्छत्। राजा च रहसि सर्वं तस्यै प्राह। स च राजमुखेन कालिदासावज्ञां ज्ञात्वा पुनः प्राह--'देव प्राणनाथ, सर्वज्ञोऽसि।

स्नेहो हि वरमघटितो न वरं सञ्जातविघटितस्नेहः।
हतनयनो हि विषादी न विषादी भवति (१)जात्यन्धः ॥१३७॥

तब राजा भी खिन्न रहने लगा। तदनन्तर राजा को खिन्न देखकर रानी लीलावती ने विषाद का कारण पूछा। एकांत में राजा ने उसे सब कुछ बताया। राजा के मुख से कालिदास की अवहेलना हुई जानकर उसने फिर कहा--'देव, प्राणनाथ, आप सर्वज्ञ हैं।

---

(१) जन्मान्ध इति यावत्।

प्रेम यदि उत्पन्न ही न हो तो अच्छा है परन्तु उत्पन्न होकर टूटा स्नेह अच्छा नहीं। जिसकी आँखें न रहे, दुःखी वही होता है, जो जन्मान्ध है, वह नहीं।

परन्तु कालिदासः कोऽपि भारत्याः पुरुषावतारः। तत्सर्वभावेन सम्मानयैनं विद्वद्भ्यः। पश्य—

दोषाकरोऽपि कुटिलोऽपि कलङ्कितोऽपि
मित्रावसानसमये विहितोदयोऽपि।
चन्द्रस्तथापि हरव (१)ल्लभतामुपैति
नैवाश्रितेषु गुणदोषविचारणा स्यात्॥ १३८॥

परंतु कालिदास तो वाग्देवता का नर रूप में एक अवतार है। तो उसका सब विद्वानों से अधिक सम्मान कीजिए। देखिए—, दोषा रात्रि का करने वाला इस प्रकार) दोषों का भांडार होने पर भी, वक्र होने पर भी, कलंक युक्त होने पर भी और मित्र (सूर्य) के अस्त होने के समय स्वयम् उदित होने वाला होकर भी (मित्र की अवनति से स्वम् उन्नति कर लेने के दोष से युक्त होकर भी) चंद्रमा ने शिव के प्रेम को प्राप्त कर लिया है। (इससे सिद्ध है) आश्रित जनों के गुण-दोष का विचार नहीं किया जाता।

राजा–प्रिये, सर्वमेतत्सत्यमेव' इत्यङ्गीकृत्य 'श्वः कालिदासं प्रातरेव सन्तोषयिष्यामि' इत्यवोचत्।

अन्येद्यु राजा दन्तधावनादिविधिं विधाय निर्वर्तितनित्यकृत्यः सभां प्राप। पण्डिताः कवयश्च गायका अन्ये प्रकृतयश्च सर्वे समाजग्मुः। कालिदासमेकमनागतं वीक्ष्य राजा स्वसेवकमेकं तदाकारणाय वेश्यागृहं प्रेषयामास।

राजा ने स्वीकारा और कहा—'प्रिये, यह सब सत्य है। कल सवेरे ही कालिदास को संतुष्ट करूँगा।'

दूसरे दिन दतुअन आदि करके नित्य कर्म से निपट राजा सभा में पहुँचा। पंडित, कवि, गायक और अन्य सब सामंत–समासद आ गये। एक

(१) महेशानुरागतामित्यर्थः।

कालिदास को न आया देख राजा ने उसे बुला लाने के लिए अपने सेवकों में से एक को वेश्या के घर भेजा।

स च गत्वा कालिदासं नत्वा प्राह—'कवीन्द्र, त्वामाकारयति भोजनरेन्द्रः' इति। ततः कविर्व्यचिन्तयत्—'गतेऽह्नि नृपेणावमानितोऽहमद्य प्रातरेवाकारणे किं कारणमिति।

यं यं नृपोऽनुरागेण सम्मानयति संसदि।
तस्य तस्योत्सारणाय यतन्ते राजवल्लभाः॥ १३९॥

वह पहुँच कर और कालिदास को प्रणाम करके बोला—'कविराज, राजा भोज आपको बुलाते हैं।' तब कवि ने विचारा—'कल राजा ने मुझे अवमानित किया था, आज प्रातः काल ही बुलाने में क्या कारण है?

राजा सभा में प्रेम पूर्वक जिस-जिसका संमान करता है, राजा के प्रेम पात्र व्यक्ति उसी को उखाड़ने का प्रयत्न करते हैं।

किन्तु विशेषतो राज्ञान्वहं मान्यमाने मयि मायाविनो मत्सराद्वैरं बोधयन्ति।

अविवेकमतिर्नृपतिर्मन्त्री गुणवत्सु वक्रितग्रीवः।
यत्र खलाश्च प्रबलास्तत्र कथं सज्जनावसरः॥ १४०॥

इति विचारयन्सभामागच्छत्।

परंतु, प्रतिदिन राजा के द्वारा मेरा विशेष रूप से सम्मान होने पर मायावी लोग मेरे साथ ईर्ष्या और वैर मानते हैं।

जहाँ अविवेकी (कर्तव्य-बोध-रहित) राजा हो, गुणवानों पर टेढ़ी गरदन किये रहनेवाला (अप्रसन्न) मंत्री हो और जहाँ दुष्ट जन बलवान् पड़ते हों, वहाँ भले व्यक्तियों को अवसर कहाँ?

ऐसा विचार करता हुआ सभा में पहुँचा।

ततो दूरे समायान्तं वीक्ष्य सानन्दमासनादुत्थाय 'सुकवे, मत्प्रियतम, अद्य कथं विलम्बः क्रियते' इति भाषमाणः पञ्चषट्पदानि सम्मुखो गच्छति ततो निखिलाऽपि सभा स्वासनादुत्थिता। सर्वे सभासदश्च चमत्कृताः। वैरिणश्चास्य विच्छायवदना बभूवुः। ततो राजा निजकर-

कमलेनास्य करकमलमवलम्ब्य स्वासनदेशं प्राप्य तं च सिंहासनमुपवेश्य स्वयं च तदाज्ञया तत्रैवोपविष्टः ।

तब दूर पर ही उसे आता देख कर आनन्दित हो आसन से उठ कर राजा यह कहता हुआ कि हे सुकवे, मेरे प्रियतम, आज क्यों विलंब किया—'पाँच-छः डग आगे बढ़ आया। तब संपूर्ण सभा अपने आसन से उठ खड़ी हुई। सब सभासद् चमत्कृत हो गये। वैरी जन के मुँह उतर गये। तब राजा अपने कर कमल से उसके करकमल को पकड़ कर अपने आसन स्थान पर पहुँचा और अपने सिंहासन पर उसे बैठा कर स्वयम् उसकी आज्ञा से वहीं बैठ गया।

ततो राजसिंहासनारूढे कालिदासे बाणकविर्दक्षिणं बाहुमुद्धृत्य प्राह—

'भोजः कलाविद्रुद्रो वा कालिदासस्य माननात्।
विबुधेषु कृतो राजा येन दोषाकरोऽप्यसौ' ॥ १४१ ॥

ततोऽस्य विशेषेण विद्वद्भिः सह वैरानलः प्रदीप्तः।

तत्पश्चात् कालिदास के राज सिंहासन पर बैठ जाने पर बाण कवि ने दाहिनी भुजा उठा कर कहा—

कालिदास का मान करने में कला मर्मज्ञ यह राजा भोज है अथवा रुद्र शिव कि इसने दोषाकर (रात्रि का करने वाला) चन्द्रमा के समान दोषाकर (दोषों के आगार) इस कालिदास को विद्वानों मे राजा बना दिया। तो इस कारण विद्वानों के साथ कालिदास की वैराग्नि और भी दीप्त हो गयी।

ततः कैश्चिद्बुद्धिमद्भिर्मन्त्रयित्वा सर्वैरपि विद्वद्भिर्भोजस्य ताम्बूलवाहिनी दासी धनकनकादिना सम्मानिता। ते च तां प्रत्युपायमूचुः—'सुभगे, अस्मत्कीर्तिमसौ कालिदासो गलयति। अस्मासु कोऽपि नैतेन कलासाम्यं प्रवहते। वत्से, यथैनं राजा देशान्तरं निःसारयति तद्भवत्या कर्तव्यम्' इति। दासी प्राह—'भवद्भ्यो हारं प्राप्य मया युष्मत्कार्यं क्रियते। तन्मम प्रथमं हारो दातव्यः' इति। ततः सा ताम्बूलवाहिनी तैर्दत्तं हारमादाय व्यचिन्तयत्। तथा हि—'बुधैरसाध्यं किं वास्ति।'

तत्पश्चात् कुछ बुद्धिमानों ने सलाह करके सभी विद्वानों द्वारा भोज की तांबूल वाहिका दासी का, धन मान और सुवर्ण आदि देकर संमान कराया।

और फिर उन्होंने उसे उपाय बताया—'हे सुभगे, यह कालिदास हमारे यश को गला रहा है। हममें कोई कला के क्षेत्र में इसके समान नहीं है। सो दासी, तुम ऐसा करो कि राजा इसे इस देश से दूसरे देश को निकाल दे।' दासी बोली—'आप लोगों से हार पाकर मेरे द्वारा आपका काम हो सकता है। सो पहिले मुझे हार दीजिए।' तदनन्तर उनके द्वारा दिया हार पाकर वह पानवाली दासी विचार करने लगी कि—'विद्वानों द्वारा असाध्य क्या है?' (विद्वान् क्या नहीं कर सकते?)

ततः समतिक्रामत्सु कतिपयवासरेषु दैवादेकाकिनि प्रसुप्ते राजनि चरणसंवाहनादिसेवामस्य विधाय तत्रैव कपटेन नेत्रे निमील्य सुप्ता। ततश्चरणचलनेन राजानमीषज्जागरूकं सम्यग्ज्ञात्वा प्राह—'सखि मदनमालिनि, सा दुरात्मा कालिदासो दासीवेषेणान्तः पुरं प्राप्य लीलादेव्या सह रमते।

तदनन्तर कुछ दिन बीतने पर भाग्य वश जब राजा अकेला सो गया तो राजा के पैर दबाने आदि सेवा करके तांबूल वाहिका दासी वहीं कपट पूर्वक नेत्र बन्द करके (नींद का बहाना करती) लेट गयी। तत्पश्चात् पैरों के इधर उधर डुलाने से राजा को थोड़ा जागा हुआ भली भांति समझ कर (सोते-सोते जैसे) कहने लगी—'सखी मदनमालिनी, वह दुष्टात्मा कालिदास दासी के वेष में रनिवास में प्रविष्ट होकर लीला देवी के साथ रमण करता है।'

राजा तच्छ्रुत्वोत्थाय प्राह—'तरङ्गवति, किं जागर्षि' इति। सा च निद्राव्याकुलेव न शृणोति। राजा च तस्या अपध्वनिं श्रुत्वा व्यचिन्तयत्—'इयं तरङ्गवती निद्रायां स्वप्नवशंगता वासनावशाद्देव्याः दुश्चरितं प्राह। स च स्त्रीवेषेणान्तःपुरमागच्छतीत्येतदपि सम्भाव्यते। को नाम स्त्रीचरितं वेद' इति।

राजा यह सुन उठ कर बोला—'तरङ्गवती, क्या जाग रही है?' उसने—जैसे कि वह नींद में बेसुध हो, ऐसी स्थिति प्रकट करते हुए—सुना ही नहीं। राजा ने उसकी बर्राहट सुनकर सोचा—'नींद में सपना देखते हुए अवचेतना के वश इस तरंगवती ने रानी के दुश्चरित्र को कह दिया है। वह (कालिदास)

भी स्त्री वेष में अन्तःपुर में आता हो, यह भी संभव है। स्त्री चरित्र को कौन जानता है ?"

ततश्चेत्थं विचार्य राजा परेद्युः प्रातरात्मनि कृत्रिमज्वरं विधाय शयानः कालिदासं दासीमुखेनानाय्य तदागमनानन्तरं तयैव लीलादेवीं चानाय्य देवीं प्रत्यवदत्—'प्रिये, इदानीमेव मया पथ्यं भोक्तव्यम्' इति। इत्युक्ते सापि 'तथैव' इति पथ्यं गृहीत्वा राज्ञे रजतपात्रे दत्त्वा तत्र मुद्गदालीं प्रत्यवेषयत्।

तत्पश्चात् ऐसा विचार कर दूसरे दिन प्रातः कपटज्वर का बहाना करके लेटे राजा ने दासी द्वारा कालिदास को बुलवा लिया और तत्पश्चात् उसी दासी द्वारा लीला देवी को बुलवा कर देवी से कहा—'प्रिये, इस समय मैं पथ्य-भोजन ही करूँगा।' राजा के ऐसा कहने पर वह भी 'ठीक है'—यह मान पथ्य लाकर राजा को चांदी पात्र में देकर मूँग की दाल परोसी।

ततो राजापि तयोरभिप्रायं जिज्ञासमानः श्लोकार्धं प्राह—

'मुद्गदाली गदव्याली कवीन्द्र वितुषा कथम्।' इति।

तब उन दोनों (रानी-कालिदास) के विचारों के जानने की आकांक्षा से राजा ने आधा श्लोक कहा—

'कविराज, रोग के लिए सर्पिणी तुल्य मूँग की दाल भला क्यों छिलका रहित हुई ?'

ततः कालिदासो देव्यां समीपवर्तिन्यामप्युत्तरार्धं प्राह—

'अन्धवल्लभसंयोगे जाता विगतकञ्चुकी' ॥ १४२ ॥

तब रानी के पास बैठे होने पर भी कालिदास ने श्लोक का उत्तरार्द्ध कह दिया—'अन्धा प्रिय होने के कारण इसने चोली उतार दी।'

देवीतच्छ्रुत्वा परिज्ञातार्थस्वरूपा सरस्वतीव तदर्थं विदित्वा स्मेरमुखी मनागिव बभूव। राजाप्येतद् दृष्ट्वा विचारयामास—'इयं पुरा कालिदासे स्निह्यति। अनेनैतस्यां समीपवर्तिन्यामपीत्थमभ्यधायि। इयं च स्मेरमुखी बभूव। स्त्रीणां चरित्रं को वेद।

अश्व(१)प्लुतं वासवगर्जितं च स्त्रीणां च चित्तं पुरुषस्य भाग्यम्।
अवर्षणं चाप्यतिवर्षणं च देवो न जानाति कुतो मनुष्यः ॥ १४३ ॥

---

(१) अश्वधावनम्।

रानी उसे सुन अर्थ के स्वरूप को जानने वाली सरस्वती के समान उसका अर्थ समझ कर किंचित् मुस्कुरा दी। राजा ने यह देख कर सोचा–'यह पहिले से कालिदास से प्रेम करता है; इसीसे इस (कालिदास) ने इस (रानी) के निकट रहने पर भी इस प्रकार कह डाला। और यह मुस्कुरा दी। स्त्री चरित्र कौन जानता है ?

घोड़े की कुदान, वासव (धनिष्ठा नक्षत्र) की गरज, स्त्रियों का चित्त, पुरुष का भाग्य, अवृष्टि और अतिवृष्टि—इनको देव नहीं जानता, मनुष्य की तो गिनती क्या ?

किन्त्वयं ब्राह्मणो दारुणापराधित्वेऽपि न हन्तव्य इति विशेषेण सरस्वत्याः पुरुषावतारः' इति विचार्य कालिदासं प्राह—'कवे, सर्वथास्मद्देशे न स्थातव्यम्। किं बहुनोक्तेन। प्रतिवाक्यं किमपि न वक्तव्यम्।

परन्तु कठोर अपराधी होने पर भी इस ब्राह्मण; विशेषतया सरस्वती के पुरुषावतार की हत्या उचित नहीं है, ऐसा विचार कर राजा ने कालिदास से कहा—'कवि, हमारे देश में एक क्षण मत ठहरो। अधिक कहने से क्या ? कोई प्रत्युत्तर मत दो।'

ततः कालिदासोऽपि वेगेनोत्थाय वेश्यागृहमेत्य तां प्रत्याह—'प्रिये, अनुज्ञां देहि। मयि भोजः कुपितः स्वदेशे न स्थातव्यमित्युवाच। अहह—

अघटितघटितं घटयति सुघटितघटितानि दुर्घटीकुरुते।
विधिरेव तानि घटयति तानि पुमान्नैव चिन्त्यति ॥ १४४ ॥

किं च किमपि विद्वद्वृन्दचेष्टितमेवेति प्रतिभाति।

तत्पश्चात् कालिदास भी तुरन्त उठ कर वेश्या के घर पहुँच उससे बोला–'प्रिये, अनुमति दो। क्रुद्ध होकर भोज ने स्वदेश में न रहने की आज्ञा दी है। अहा—

जो घटना न हो सके, उसे घटा देता है और जो सरलता से घट सकती है, उसे दुर्घट बना देता है। जिन्हें पुरुष सोचता भी नहीं, विधाता उन्हें घटित कर देता है।

किंतु यह विद्वन्मंडली ने ही कुछ किया है—ऐसा प्रतीत होता है।

तथा हि—

वहूनामल्पसाराणां समवायो (१) दुरत्ययः।
तृणैर्विधीयते रज्जुर्बध्यन्ते तेन दन्तिनः॥ १४५॥

और—अल्प वल वाले वहुतों का संगठित होना कठिनता से वश में आ सकने वाला वन जाता है। रस्सी तिनकों से वनायी जाती है किंतु उससे दतैल हाथी वाँध लिये जाते हैं।

ततो विलासवती नाम वेश्या तं प्राह—

तदेवास्य परं मित्रं यत्र सङ्क्रामति द्वयम्।
दृष्टे सुखं च दुःखं च प्रतिच्छायेव दर्पणे॥

दयित, मयि विद्यमानायां किं ते राज्ञा, किं वा राजदत्तेन वित्तेन कार्यम्। सुखेन निःशङ्कं तिष्ठ मद्गृहान्तः कुहरे' इति। ततः कालिदासस्तत्रैव वसन्कतिपयदिनानि गमयामास।

तव विलासवती नाम की वेश्या ने उससे कहा—

'जैसे दर्पण में प्रतिविम्व संक्रमित हो जाता है, वैसे ही सुख और दुःख—दोनों जिसमें संक्रमित हो जायें, वही सबसे वड़ा मित्र होता है। (मित्र सुख-दुःख—दोनों का समान अनुमव करने वाला ही होता है।)

स्वामी, मेरे रहते क्या काम तुम्हें राजा से और क्या लेना तुम्हें राजा के धन से ? मेरे घर के गुप्त आगार में सुख पूर्वक शंका त्याग कर रहो।'

सो वहीं रहते कालिदास ने कुछ दिन विता दिये।

ततः कालिदासे गृहान्निर्गते राजानं लीलादेवी प्राह—'देव, कालिदासकविना साकं नितान्तं निविडतमा मैत्री। तदिदानीमनुचितं कस्मात्कृतं यस्य देशेऽप्यवस्थानं निषिद्धम्।

इक्षोरग्रात्क्रमशः पर्वणि पर्वणि यथा रसविशेषः।
तद्वत्सज्जनमैत्री विपरीतानां च विपरीता॥ १४७॥
शोकारातिपरित्राणं प्रीतिविस्रम्भभाजनम्।
केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम्॥ १४८॥

---

(१) अत्येतुमशक्यः।

तदनन्तर कालिदास के घर से चले जाने पर राजा से लीला देवी ने कहा—
'महाराज, कालिदास के साथ आपकी बहुत घनी मित्रता है। सो इस सम
किस लिए उसका देश में रहना भी आपने अनुचित रूप से निषिद्ध कर दिया

जैसे गन्ने की फुलची (ऊपरी भाग) से क्रमशः नीचे के पोरों में र
(मिठास) बढ़ता जाता है, वैसे ही सज्जनों की मित्रता क्षण-क्षण बढ़
जाती है और सज्जनों के विपरीत, जो दुर्जन हैं, उनकी इससे विपरी
घटती है।

शोक रूपी शत्रु से त्राण दिलाने वाले, प्रेम और विश्वास के पात्र दो अक्ष
के रत्न 'मित्र' की सृष्टि किसने की है?'

राजाप्येतल्लीलादेवीवचनमाकर्ण्य प्राह—'देवि, केनापि ममेत्यभि
धायि यत्कालिदासो दासीवेषेणान्तःपुरमासाद्य देव्या सह रमते' इति
मया चैतद्व्यापारजिज्ञासया कपटज्वरेणायं भवती च वीक्षितौ। तत
समीपवर्तिन्यामपि त्वय्युत्तरार्धमित्थं प्राह। तच्चाकर्ण्य त्वयापि कृत
हासः। ततश्च सर्वमेतद्दृष्ट्वा ब्राह्मणहननभीरुणा मया देशान्निःस
रितः। त्वां च न दाक्षिण्येन हन्मि' इति।

लीलादेवी के ऐसे वचन सुनकर राजा ने भी कहा—'रानी किसी ने मुझ
यह कहा कि कालिदास दासी वेष में रनिवास में पहुँचकर रानी के साथ रम
करता है। मैंने इस बात को जानने की आकांक्षा से ज्वर का बहाना कर
उसे और आपको देखा। तब तुम्हारे निकट में उपस्थित रहने पर भी उस
ऐसा श्लोक का उत्तरार्द्ध पढ़ा। और उसे सुनकर तुम भी मुस्कुरा दीं। त
यह सब देखकर ब्राह्मण वध के डर से मैंने उसे देश से निकाल दिया, औ
तुम्हें मैं उदारता के कारण नहीं मार रहा हूँ।'

ततो हासपरा देवी चमत्कृता प्राह—'निःशङ्कं देव, अहमे
धन्या यस्यास्त्वं पतिरीदृशः। यत्त्वया भुक्तशीलाया मम मनः कथमन्य
गच्छति। यतः सर्वकामिनीभिरपि कान्तोपभोगे स्मर्तव्योऽसि। अह
देव, त्वं यदि मां सतीमसतीं वा कृत्वा गमिष्यसि, तर्ह्यहं सर्वथा मरिष्ये
इति। ततो राजापि 'प्रिये, सत्यं वदसि' इति। ततः स नृपतिः पुरु
रहिमानयामास। तप्तं लोहगोलकं कारयामास। धनुश्च सज्जं चक्रे।

तदनन्तर हँसती हुई रानी आश्चर्य में पड़कर बोली—महाराज, निःसन्देह मैं धन्य हूँ; जिसके आप ऐसे पति हैं। आपके द्वारा भोगी जाने वाली मेरा मन और कहीं कैसे जायेगा, क्योंकि आप तो प्रियोपभोग काल में सभी कामिनियों द्वारा स्मरण किये जाने योग्य हैं? हाय महाराज, यदि आप मुझ सती को असती ठहरा कर चले जायेंगे तो फिर मैं मर ही जाऊँगी।' तब राजा ने भी कहा—'प्रिये, तुम सच कहती हो।' तत्पश्चात् राजा ने सेवकों से सर्प मँगवाया, लोहे का गोला गर्म करवाया और धनुष को चढ़ाकर रक्खा :

ततो देवी स्नाता निजपातिव्रत्यानलेन देदीप्यमाना सुकुमारगात्री सूर्यमवलोक्य प्राह—'जगच्चक्षुस्त्वं सर्वं वेत्सि।

जाग्रति स्वप्नकाले च सुषुप्तौ यदि मे पतिः।
भोज एव परं नान्यो मच्चित्ते भावितोऽस्ति न ॥ १४९ ॥

इत्युक्त्वा ततो दिव्यत्रयं चक्रे। ततः शुद्धायामन्तःपुरे लीलावत्यां लज्जानतशिरा नृपतिः पश्चात्तापातुरः 'देवि, क्षमस्व पापिष्ठं माम्। किं वदामि' इति कथयामास।

तदनंतर स्नान करके अपने पतिव्रत रूपी अग्नि से दीप्त होती सुकुमार शरीरवाली रानी सूर्य को देखकर बोली—,जगत् के नेत्र आप सब जानते हो।

जागते, स्वप्न देखते अथवा सोते समय यदि भोज ही मेरे पति हैं, तो किसी अन्य का विचार भी मैंने किया है या नहीं—यह स्पष्ट करो।'

ऐसा कहके उसने तीनों प्रकार की परिक्षाएँ दीं। तब अंतःपुर में देवी लीलावती को शुद्ध प्रमाणित पा लाज से सिर झुकाये, पछताता हुआ राजा बोला- 'देवि, मुझ पापी को क्षमा करो। क्या कहूँ?'

राजा च तदाप्रभृति न निद्राति, न च भुङ्क्ते, न केनचिद्वक्ति। केवलमुद्विग्नमनाः स्थित्वा दिवानिशं प्रविलपति 'किं नाम मम लज्जा, किं नाम दाक्षिण्यम्, क्व गाम्भीर्यम्। हा हा कवे, कविकोटिमुकुटमणे, कालिदास, हा हा मम प्राणसम हा। मूर्खेण किमश्राव्यं श्रावितोऽसि। अवाच्यमुक्तोऽसि' इति प्रसुप्त इव ग्रहग्रस्त इव, मायाविध्वस्त इव, पपात। ततः प्रियाकरकमलसिक्तजलसञ्जातसंज्ञः कथमपि तामेव प्रियां वीक्ष्य स्वात्मनिन्दापरः परमतिष्ठत्।

तव से राजा न सोता था, न भोजन करता था और न किसी से बोलता ही था। उन्मन हो बैठ कर केवल दिन रात विलाप करता था—'मुझे कैसी लज्जा, कैसी मेरी उदारता और कहाँ मेरी गंभीरता? हाय, कवि, कवियों के मुकुटमणि, कालिदास, मेरे प्राण-तुल्य, हाय! मुझ मूर्ख ने तुम्हें क्या न सुनने योग्य सुनाया, अकथनीय कहा?' इस प्रकार सोया हुआ जैसा, ग्रह गृहीत जैसा, माया से विनष्ट जैसा गिर पड़ता। तव फिर प्रिय रानी के कर-कमलों द्वारा छिड़के गये जल से सुधि पाकर और उसी प्रिया को देखकर अपनी निंदा करता हुआ किसी प्रकार चला रहा था।

ततो निशानाथहीनेव निशा, दिनकरहीनेव दिनश्रीः, वियोगिनीव योषित्, शक्ररहितेव सुधर्मा, न भाति भोजभूपालसभा रहिता कालिदासेन। तदाप्रभृति न कस्यचिन्मुखे काव्यम्। न कोऽपि विनोदसुन्दरं वचो वक्ति।

तव फिर जैसे रात्रि के स्वामी (चंद्र) से रहित रात्रि हो, दिन के कर्त्ता (सूर्य) से रहित जैसे दिवसलक्ष्मी हो, जैसे कोई वियोगिनी हो, जैसे इंद्र से रहित देव सभा हो, ऐसे ही कालिदास से रहित राजा भोज की सभा अच्छी न लगने लगी। तव से किसी के मुख में काव्य रहा ही नहीं। कोई विनोदपूर्ण सुन्दर वाक्य तक न बोलता था।

ततो गतेषु केषुचिद्दिनेषु कदाचिद्राकापूर्णेन्दुमण्डलं पश्यन्पुरश्च लीलादेवीमुखेन्दुं वीक्ष्य प्राह—

'तुलणं अणु अणुसरइ ग्लौसो मुहचन्दस्स खु एदाए।'

कुत्र च पूर्णेऽपि चन्द्रमसि नेत्रविलासाः, कदा वाचो विलसितम्। प्रातश्चोत्थितः प्रातर्विधीन्विधाय सभां प्राप्य राजा विद्वद्वरान्प्राह—'अहो कवयः, इयं समस्या पूर्यताम्।' ततः पठति—

(१) 'तुलणं अणु अणुसरइ ग्लौसो मुहचन्दस्स खु एदाए।'

पुनराह—'इयं चेत्समस्या न पूर्यते भवद्भिर्मद्देशे न स्थातव्यम्' इति। ततो भीतास्ते कवयः स्वानि गृहाणि जग्मुः।

तदनतर कुछ दिन बीतने पर कभी पूर्णिमा के पूर्ण चद्रमंडल और संमुख लीलादेवी के मुखचंद्र को देखकर राजाने (एक पद) कहा—

(१) तुलनामन्वनुसरति, ग्लौसो मुखचन्द्रस्य खल्वेतस्याः।

'कभी न चंदा हो सकता है इस मुखेंदु के तुल्य।'

पूरे चाँद में भी इस जैसे नयनों के विलास कहाँ हैं और कब होता है ऐसा वाणी विलास ! तत्पश्चात् प्रातः उठ कर और प्रातः कृत्य समाप्त करके सभा में पहुँच राजा विद्वद्वरों से बोला—'हे कविजन, इस समस्या की पूर्ति करो,' और पढ़ा—

'कभी न चंदा हो सकता है इस मुखेंदु के तुल्य।'

फिर कहा—'यदि आप इस समस्या की पूर्ति नहीं कर सकते, तो मेरे देश में रहना उचित नहीं है।' तब डरे हुए वे कवि अपने-अपने घर गये।

चिरं विचारितेऽप्यर्थे कस्यापि नार्थसङ्गतिः स्फुरति। ततः सर्वैर्मिलित्वा बाणः प्रेषितः। ततः सभां प्राप्याह राजानम्—'देव, सर्वैर्विद्वद्भिरहं प्रेषितः। अष्टवासरानवधिमभिधेहि। नवमेऽह्नि पूरयिष्यन्ति ते। न चेद्देशान्निर्गच्छन्ति।' ततो राजा 'अस्तु' इत्याह। ततो बाणस्तेषां विज्ञाप्य राजसन्देशं स्वगृहमगात्। ततोऽष्टौ दिवसा अतीताः। अष्टमदिनरात्रौ मिलितेषु कविषु बाणः प्राह—'अहो तारुण्यमदेन राजसंमानप्रमादेन किञ्चिद्विद्यामदेन कालिदासो निःसारितोऽभवत्। समे भवन्तः सर्व एव कवयः। विषमे स्थाने तु स एक एव कविः। तं निःसार्येदानीं किं नाम महत्त्वमासीत्। स्थिते तस्मिन् कथमियमवस्थास्माकं भवेत्। तन्निःसारे या या बुद्धिः कृता सा भवद्भिरेवानुभूयते।

सामान्यविप्रविद्वेषे कुलनाशो भवेत्किल।
उमारूपस्य विद्वेषे नाशः कविकुलस्य हि ॥ १५० ॥

बहुत समय तक अर्थ विचारते रहने पर भी किसी को भी अर्थ की संगति का स्फुरण नहीं हुआ। तब सबने मिलकर बाण को भेजा वह सभा में जाकर राजा से बोला—'महाराज, सब विद्वानों ने मुझे भेजा है। आठ दिन का अवसर दीजिए। वे नवें दिन समस्या पूर्ति कर देंगे, अन्यथा देश से निकल जायेंगे।' तब राजा ने कहा—'ठीक है।' तदनंतर बाण राजा का संदेश उन्हें बताकर अपने घर चला गया। फिर आठ दिन बीत गये। आठवें दिन की रात में उन कवियों के मिलने पर बाण ने कहा—'अरे, तरुणाई के मद अथवा राज संमान के प्रमाद अथवा कुछ विद्या के मद के कारण आपने कालिदास को निकलवा दिया। सहज स्थान में तो आप सभी कवि

हैं, विषमस्थान में तो वही एक कवि है। उसे निकलवाकर आपने अब कौन-सी बड़ाई पा ली। उसके रहने पर हमारी यह दशा क्यों होती? उसे निकलवाने में जो-जो बुद्धि लगायी, उसका अनुभव अब आपको ही हो रहा है।

सामान्य ब्राह्मण से विद्वेष रखने पर निश्चय ही कुलनाश होता है। उमा रूप ब्राह्मण द्वेष से कवि कुल का नाश होता है।

ततः सर्वे गाढं कलहायन्ते स्म मयूरादयश्च। ततस्ते सर्वान्कलहाञ्निवार्य सद्यः प्राहुः—'अद्यैवावधिः पूर्णः कालिदासमन्तरेण न कस्यचित्सामर्थ्यमस्ति समस्यापूरणे।

सङ्ग्रामे सुभटेन्द्राणां कवीनां कविमण्डले।
दीप्तिर्वा दीप्तिहानिर्वा मुहुर्तेनैव जायते॥ १५१॥

यदि रोचते ततोऽद्यैव मध्यरात्रे प्रमुदितचन्द्रमसि निगूढमेव गच्छामः सम्पत्तिसम्भारमादाय। यदि न गम्यते श्वो राजसेवका अस्मान् बलान्निःसारयन्ति। तदा देहमात्रेणैवास्माभिर्गन्तव्यम्। तदद्य मध्यरात्रे गमिष्यामः।' इति सर्वे निश्चित्य गृहमागत्य बलीवर्दव्यूढेषु शकटेषु सम्पद्भारमारोप्य रात्रावेव निष्क्रान्ताः।

तदनंतर सब मयूर आदि कवि डटकर आपस में झगड़ने लगे। तब वे सब झगड़ना छोड़कर तुरंत बोले—'आज ही अवधि पूर्ण हुई है और समस्यापूर्ति की सामर्थ्य कालिदास को छोड़कर किसी में भी है नहीं।

सुभटराजों की युद्ध में और कवियों की कवि मंडली में तेजोमयता अथवा तेजो हानि मुहूर्तभर में ही हो जाती है।

सो यदि आप लोग ठीक समझें तो आज ही आधी रात को चंद्रमा के उदित होने पर चुपचाप संपत्ति सामग्री ले करके निकल चलें। यदि नहीं जायेंगे तो कल राज सेवक हमें बल पूर्वक निकाल बाहर करेंगे। तब फिर हमें अपना शरीरमात्र लेकर जाना पड़ेगा। सो आज आधी रात को निकल चलेंगे।' ऐसा निश्चय कर घर पहुँच बैलगाड़ियों पर संपत्ति सामग्री लादकर सब रात को ही निकल पड़े।

ततः कालिदासस्तत्रैव रात्रौ विलासवतीसदनोद्याने वसन् पथि गच्छतां तेषां गिरं श्रुत्वा वेश्याचेटीं प्रेषितवान्—'प्रिये, पश्य क एते

गच्छन्ति ब्राह्मणा इव ।' ततः सा समेत्य सर्वानपश्यत् । उपेत्य च कालिदासं प्राह--

एकेन राजहंसेन या शोभा सरसोऽभवत् ।
न सा बकसहस्रेण परितस्तीरवासिना ॥ १५२ ॥

सर्वे च बाणमयूरप्रमुखाःपलायन्ते,नात्र संशयः' इति । कालिदासः- 'प्रिये, वेगेन वासांसि भवनादानय, यथा पलायमानान्विप्रान्रक्षामि ।

किं पौरुषं रक्षति यो न (१) वार्तान् किं वा धनं नार्थिजनाय यत्स्यात् ।
सा किंक्रिया या न (२) हितानुबद्धा किं जीवितं साधुविरोधि यद्वै ॥१५३॥

तब कालिदास रात में वहीं विलासवती की गृहवाटिका में रह रहा था, उसने रास्ते में जाते उन सब कवियों की बातचीत सुनकर वेश्या की दासी को भेजा--'प्रिये, ये कौन ब्राह्मण जैसे जा रहे हैं ?' तब उसने जाकर सबको देखा और कालिदास के पास पहुँचकर कहा—

एक राजहंस से सरोवर की जैसी शोभा होती है वैसी चारों ओर तीर पर एकत्र सहस्रों बगुलों से नहीं ।

सब बाण, मयूर आदि कवि भागे जा रहे हैं, इसमें कोई संदेह नहीं । कालिदास ने कहा—'प्रिये, शीघ्रतया घर से वस्त्र लेकर आओ कि इन भागे जाते विप्रों की रक्षा कर सकूँ ।

जो दुःखियों की रक्षा न करे, वह पौरुष कैसा और जो याचकों के काम न आ सके, वह धन कैसा ? वह कर्म भी क्या, जिससे हित न हो सके और उस जीवन से क्या लाभ, जिससे सज्जन-विरोध हो ?'

ततः स कालिदासश्चारणवेषं विधाय खड्गमुद्वहन्क्रोशार्धमुत्तरं गत्वा तेषामभिमुखमागत्य सर्वान्निरूप्य 'जय' इत्याशीर्वचनमुदीर्य पप्रच्छ चारणभाषया—'अहो विद्यावारिधयः, भोजसभायां सम्प्राप्तमहत्त्वातिशयाः, बृहस्पतय इव सम्भूय कुत्र जिगमिषवो भवन्तः । कच्चित्कुशलं वः । राजा च कुशली । अस्माभिः काशीदेशादागम्यते भोजदर्शनाय वित्तस्पृहया च ।

तब कालिदास ने चारण का वेष बना, खड्ग-धारण कर आधे कोस उत्तर जा, उनके संमुख पहुँच कर सबको देखा और 'जय' यह आशीर्वचन

---

(१) वा आर्तान् इति च्छेदः । (२) या हितं नानुबध्नाति ।

कह कर चारणों की भाषा में पूछा—'हे विद्या के सागर विद्वानो, भोज की सभा में अतिशय महत्त्व पा वृहस्पति के समान होकर आप लोग कहाँ जाने की इच्छा कर रहे हैं ? आप लोग सकुशल हैं न ? राजा भी कुशल पूर्वक है ! हम भी भोज वे दर्शन और धन की आकांक्षा से काशी-देश से आ रहे हैं।'

ततः परिहासं कुर्वन्तः सर्वे निष्क्रान्ताः। ततस्तेषु कश्चित्तद्गिरमाकर्ण्य तं च चारणं मन्यमानः कुतूहलेन विपश्चित्प्राह—'अहो चारण' शृणु। 'त्वया पश्चादपि श्रोष्यत एव। अतो मयाद्यैवोच्यते। राजा किलैभ्यो विद्वद्भ्यः पूरणाय समस्योक्ता। तत्पूरणाशक्ताः कुपितराज्ञो भयाद्देशान्तरे क्वचिज्जिगमिषव एते निश्चक्रमुः'।

तव वे सब परिहास करते हुए चले गये, परंतु उनमें से कोई एक विद्वान् उसके वचन सुनकर उसे चारण मानता हुआ कुतूहल पूर्वक बोला—'अरे चारण, सुनो। तुम को बाद में तो सुनना ही होगा, इसलिए मैं आज ही कहे देता हूँ। राजा ने पूर्ति के निमित्त इन विद्वानों से एक समस्या कही। उसकी पूर्ति में असमर्थ ये क्रुद्ध राजा के डर से कहीं दूसरे देश में जाने की इच्छा से निकल पड़े हैं।

चारणः—'राज्ञा का वा समस्या प्रोक्ता।

ततः पठति स विपश्चित्—

'तुलणं अणु अणुसरइ ग्लौसो मुहचन्दस्स खु एदाए।'

चारणः—'एतत्साध्वेव गूढार्थम्। एतत्पूर्णेन्दुमण्डलं वीक्ष्य राज्ञापाठि। एतस्योत्तरार्धमिदं भवितुमर्हति—

'अणु इति वण्णयदि कहं अणुकिदि तस्स प्पडिपदि चन्दस ॥'

सर्वे श्रुत्वा चमत्कृताः। ततश्चारणः सर्वान्प्रणिपत्य निर्ययौ।

चारण ने पूछा—'राजा ने कौन सी समस्यां कही ?' तव उस विद्वान् ने पढ़ा—'कभी न चंदा हो सकता है इस मुखेंदु के तुल्य।' चारण—इसका गूढ अर्थ ठीक ही है। राजा ने पूर्ण चंद्र-मंडल देख कर इसे पढ़ा। इसका उत्तरार्द्ध यह होता उचित है :—

'प्रति पद को प्रतिक्षीण चंद्रमा—नहीं सुमुखि—मुख तुल्य।' सुनकर सव चमत्कृत हो गये। फिर चारण सवको प्रणाम करके चला गया।

ततः सर्वे विचारयन्ति स्म—अहो, इयं साक्षात्सरस्वती पुंरूपेण सर्वेषामस्माकं परित्राणायागता। नायं भवितुमर्हति मनुष्यः। अद्यापि किमपि केनापि न ज्ञायते। ततः शीघ्रमेव गृहमासाद्य शकटेभ्यो भारमुत्तार्य प्रातः सर्वैरपि राजभवनमागन्तव्यम्। न चेच्चारण एव निवेदयिष्यति। ततो झटिति गच्छाम।' इति योजयित्वा तथा चक्रुः।

तब वे सब विचारने लगे—'अहो, यह साक्षात् सरस्वती ही पुरुष रूप में हमारी रक्षा के लिए आयी थी। यह मनुष्य नहीं हो सकता। अभी तक किसी को कुछ भी नहीं मालूम हुआ है। सो शीघ्र ही घर पहुँच और गाड़ियों से समान उतार कर प्रभात में सबको राज भवन में पहुँचना ठीक होगा, अन्यथा चारण ही निवेदन कर देगा। सो झट चल देते हैं।' ऐसी योजना बनाकर उन्होंने उसी के अनुसार किया।

ततो राजसभां गत्वा राजानमालोक्य 'स्वस्ति' इत्युक्त्वा विविशुः। ततो बाणः प्राह—'देव, सर्वज्ञेन यत्त्वया पठ्यते तदीश्वर एव वेद। केऽमी वराका उदरम्भरयो द्विजाः।

तथाप्युच्यते—

तुलणं (१) अणु अणुसरइ ग्लौसो मुहचन्दस्स खु एदाए।
अणु इदि वण्णयदि कहं अणुकिदिं तस्स पडिपदि चन्दस्स ॥१५४॥

तदनन्तर वे राजा सभा में जाकर राजा को देख 'स्वस्ति' ऐसा कह कर बैठ गये। तब बाण बोला—'महाराज, सर्वज्ञ आपके द्वारा जो पढ़ा गया, उसे तो ईश्वर ही जानता है, हम बेचारे पेट भरू ब्राह्मणों की तो गणना ही क्या? तथापि निवेदन है—

'कभी न हो सकता है चंदा इस मुखेंदु के तुल्य।
प्रतिपद को प्रतिक्षीण चंद्रमा—नहीं सुमुखि, मुख तुल्य।'

राजा यथाव्यवसितस्याभिप्रायं विदित्वा 'सर्वथा कालिदासो दिवसप्राप्यस्थाने निवसति। उपायैश्च सर्वं साध्यम्' इत्याह। ततो बाणाय रुक्माणां पञ्चदशलक्षाणि प्रादात्। सन्तोषमिषेणैव विद्वद्वृन्दं स्वं स्वं सदनं प्रेषितम्।

---

(१) तुलनामन्वनुसरति ग्लौसो मुखचन्द्रस्य खल्वेतस्याः।
अन्विति वर्ण्यते कथमनुकृतिस्तस्य प्रतिपदि चन्द्रस्य ॥ इति च्छाया।

गते च विद्वन्मण्डले शनैर्द्वारपालायादिष्टं राज्ञा—'यदि केचिद्विजन्मान आयास्यन्ति' तदा गृहमध्यमानेतव्याः।'

राजा ने यथोचित अभिप्राय जान कर सोचा—'निश्चय ही कालिदास एक दिन की पहुँच के स्थान पर है। उपायों से सब सिद्ध हो सकता है।' तत्पश्चात् बाण को पंद्रह लाख के स्वर्ण भूषण दिये और संतोष प्रकट करते हुए विद्वत्-समाज को अपने-अपने घर भेज दिया। विद्वानों की मंडली के चले जाने पर धीरे से राजा ने द्वारपाल को आदेश दिया—'यदि कोई ब्राह्मण आये तो उसे महल में ले आना।'

ततः सर्वमपि वित्तमादाय स्वगृहं गते बाणे केचित्पण्डिता आहुः—'अहो, बाणेनानुचितं व्यवधायि। यदसावप्यस्माभिः सह नगरान्निष्क्रान्तोऽपि सर्वमेव धनं गृहीतवान्। सर्वथा भोजस्य बाणस्वरूपं ज्ञापयिष्यामः। यथा कोऽपि नान्यायं विधत्ते विद्वत्सु।' ततस्ते राजानमासाद्य ददृशुः। राजा तान्प्राह—'एतत्स्वरूपं ज्ञातमेव। भवद्भिर्यथार्थतया वाच्यम्।' ततस्तैः सर्वमेव निवेदितम्।

तत्पश्चात् समग्र धन लेकर बाण के अपने घर चले जाने पर कुछ पंडित बोले—'अरे, बाण ने अनुचित किया कि नगर से तो हमारे साथ ही निकला पर समग्र धन स्वयं ले लिया। भोज को बाण का सच्चा रूप हम ज्ञापित करेंगे, जिससे कि फिर कोई विद्वानों के साथ अन्याय न करे।' फिर वे राजा के पास पहुँचे और निवेदन किया। राजा ने उनसे कहा—यह तो जानता ही था, आप ठीक-ठीक सब बता दीजिए।' सो उन्होंने सब कुछ बता दिया।

ततो राजाविचारितवान्—'सर्वथाकालिदासश्चारणवेषेण मद्भयान्मदीयनगरमध्य आस्ते।' ततश्चाङ्गरक्षकानादिदेश—'अहो, पलाय्यन्तां तुरङ्गाः।'

ततः क्रीडोद्यानप्रयाणे पटहध्वनिरभवत्—'अहो, इदानीं राजा देवपूजाव्यग्र इति शुश्रुमः। पुनरिदानीं क्रीडोद्यानं गमिष्यति' इति व्याकुलाः सर्वे भटाः सम्भूय पश्चाद्यान्ति। ततो राजा तैर्विद्वद्भिः सहाश्वमारुह्य रात्रौ यत्र चारणप्रसङ्गः समजनि, तत्प्रदेशं प्राप्तः।

तब राजा ने विचारा—'निश्चय ही कालिदास मेरे भय के कारण चारण के वेष में नगर में ही हैं।' और फिर उसने अङ्ग रक्षकों को आज्ञा दी—

'घोड़े दौड़ाओ ।' तत्पश्चात् क्रीडा-उद्यान जाने के समय से संबद्ध नगाड़े का घोष हुआ—'इस समय राजा देव-पूजा में व्यग्र हैं, ऐसा सुनते हैं कि पुनः अभी क्रीडा-उद्यान में जायेंगे, सो एकत्र हो सभी भट अनुगमनार्थ प्रस्तुत हो गये । तब राजा विद्वानों के साथ घोड़े पर चढ़ कर उस प्रदेश में पहुँचा, जहाँ रात्रि को चारण की घटना हुई थी ।

ततो राजा चरतां चौराणां पदज्ञाननिपुणानाहूय प्राह—'अनेन वर्त्मना यः कोऽपि रात्रौ निर्गतस्तस्य पदान्यद्यापि दृश्यन्ते, तानि पश्यन्तु' इति । ततो राजा प्रतिपण्डितं लक्षं दत्त्वा तान्प्रेषयित्वा च स्वभवनमगात् । ते च पदज्ञा राजाज्ञया सर्वतश्चरन्तोऽपि तमनवेक्षमाणा विमूढा इवासन् ।

तब राजा ने चोरों के आने-जाने से बने पैरों के चिह्नों की पहिचान करने में निपुण व्यक्तियों को बुलाकर कहा—'इस मार्ग से कोई रात में गया है, उसके पैरों के चिह्न आज भी दीख रहे हैं, उन्हें खोजो ।' राजा ने प्रत्येक पंडित को लाख-लाख दिया उन्हे भेज कर अपने महल को लौट गया । वे पद-चिह्न-ज्ञानी व्यक्ति राजा की आज्ञा से सब ओर घूमघाम कर भी पद-चिह्न वाले व्यक्ति को न ढूँढ पाये और मूर्ख बन बैठे ।

ततश्च लम्बमाने सवितरि कामपि दासीमेकं पदत्राणं त्रुटितमादाय चर्मकारवेश्म गच्छन्तीं दृष्ट्वा तुष्टा इवासन् । ततस्तत्पदत्राणं तया चर्मकारकरे न्यस्तं वीक्ष्य तैश्च तस्याः करान्मिषेणादाय रेणुपूर्णे पथि मुक्त्वा तदेव पदं तस्येति ज्ञात्वा तां च दासीं क्रमेण, वेश्याभवनं विशन्तीं वीक्ष्य तस्या मन्दिरं परितो वेष्टयामासुः । ततश्च तैः क्षणेन (१) भोजश्रवणपथविषयमभिज्ञानवार्ता प्रापिता । ततो राजा सपौरः सामात्यः पद्भ्यामेव विलासवतीभवनमगात् ।

फिर वे सूरज-ढले एक दासी को एक फटा जूता लेकर चमार के घर जाती हुई देखकर कुछ प्रसन्न हुए । उस जूते को उसके द्वारा चमार के हाथ में रखा देख उन्होंने बहाने से उसके हाथ से उसे लिया और धूल भरे रास्ते में छोड़ कर और (इस प्रकार उसकी छाप से) समझ लिया कि वह पद चिह्न

(१) भोजम्प्रतीत्यर्थः ।

इसी (जूते के स्वामी का है और यथा क्रम दासी को वेश्या के घर में घुसती देखकर उस (वेश्या गृह) आवास को चारों से घेर लिया। फिर क्षण भर में उन्होंने राजा भोज के कानों तक इस जान कारी का समाचार भेज दिया। तब राजा पुरवासियों और मंत्रियों के साथ पैदल ही विलासवती के घर गया।

ततस्तच्छ्रुत्वा विलासवतीं प्राह कालिदासः—'प्रिये, मत्कृते किं कष्टं ते पश्य।' विलासवती—'सुकवे,

उपस्थिते विप्लव एव पुंसां समस्तभावः परिमीयतेऽतः।
अवाति वायौ नहि (१) तूलराशेर्गिरेश्च कश्चित्प्रतिभाति भेदः॥१५५॥

मित्रस्वजनबन्धूनां बुद्धेर्धैर्यस्य चात्मनः।
आपन्निकषपाषाणे जनो जानाति सारताम्॥ १५६ ॥

अप्रार्थितानि दुःखानि यथैवायान्ति देहिनः।
सुखानि च तथा मन्ये दैन्यमत्रातिरिच्यते॥ १५७ ॥

सुकवे, राज्ञा त्वयि मनाङ्निराकृते वचसापि मया सदेहं दासीवृन्दं प्रदीप्तवह्नौ पतिष्यति।' कालिदासः—'प्रिये, नैवं मन्तव्यम्। मां दृष्ट्वा विकासीकृतास्यो भोजः पादयोः पतिष्यति' इति।

फिर यह सुनकर कालिदास ने विलासवती से कहा—'प्रिये, देखो, मेरे लिए तुम्हें कैसा कष्ट हो रहा है।' विलासवती ने कहा—'हे सुकवि,

विपत्ति के उपस्थित होने पर ही मनुष्यों के सब भावों का मूल्यांकन हो पाता है; जब तक हवा नहीं चलती, रुई के ढेर और पहाड़ में कोई अंतर ही नहीं मालूम होता।

मनुष्य मित्र, स्वजन, भाई-बंधु, बुद्धि और धीरज का तथा अपना सार आपत्ति रूपी कसौटी पर कसकर जान पाता है।

जैसे मनुष्य के पास विना प्रार्थना किये ही दुःख आ जाते हैं, वैसे ही सुख भी। सो इस समय दीन भाव का अनुभव अतिरेक प्रतीत होता है।

हे सुकवि, यदि वचनों से भी राजा के द्वारा आपका थोड़ा सा भी अनादर हुआ तो मैं सशरीर दासियों के साथ जलती आग में गिर जाऊँगी।' कालिदास ने कहा—'प्रिये, ऐसा मत समझो। मुझे देख कर भोज प्रसन्न वदन हो पैरों पर गिरेगा।'

---

(१) कार्पाससमूहस्य।

ततो वेश्यागृहं प्रविश्य भोजः कालिदासं दृष्ट्वा सम्भ्रममाश्लिष्य पादयोः पतति। स राजा पठति च—

'गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा।
मा भून्मनः कदाचिन्मे त्वया विरहितं कवे ॥ १५८ ॥

कालिदासस्तच्छ्रुत्वा (१) व्रीडावनताननस्तिष्ठति। राजा च कालिदासमुखमुन्नमय्याह—

'कालिदास कलावास स्वदासवाञ्चालितो यदि।
राजमार्गे व्रजन्नत्र परेषां तत्र का त्रपा ॥ १५९ ॥
धन्यां विलासिनीं मन्ये कालिदासो यदेतया।
निबद्धः स्वगुणैरेष शकुन्त इव पञ्जरे ॥ १६० ॥

तत्पश्चात् भोज वेश्या के घर में प्रविष्ट हो कालिदास को देखा और संभ्रम के साथ के घर में प्रविष्ट हो कालिदास के पैरों में गिरा और कहा—

'चलते अथवा वैठते, जागते अथवा सोते हे कविराज, मेरा मन कभी तुमसे वियुक्त न हो।'

यह सुन कर कालिदास ने लाज से मुँह नीचा कर लिया। राजा ने कालिदास का मुख ऊँचा करके कहा—

'हे कला के आवास स्थान कालिदास, यदि दास के समान राज मार्ग में तुमने चला दिया तो इसमें औरों को लज्जा की क्या वात है ?

मैं विलासनी को धन्य मानता हूँ कि इसने अपने गुणों से कालिदास को पिंजरे में पक्षी के समान निवद्ध कर लिया।'

राजा नेत्रयोर्हर्षाश्रु मार्जयति कराभ्यां कालिदासस्य। ततस्तत्प्राप्ति-प्रसन्नो राजा ब्राह्मणेभ्यः प्रत्येकं लक्षं ददौ। निजतुरगे च कालिदासमारोप्य सपरिवारो निजगृहं ययौ।

राजा ने कालिदास के नेत्रों से प्रसन्नता के आँसू पोंछे और फिर उसके मिल जाने से प्रसन्न हो ब्राह्मणों को एक-एक लाख दिये। ओर अपने घोड़े पर कालिदास को वैठा कर परिवार सहित अपने महलों को लौट गया।

—:o:—

(१) व्रीडया—लज्जया, अवनतं मुखं यस्य स इति विग्रहः।

११—विदुषां सत्कारः-कतिपयकथा

कियत्यपि कालेऽतिक्रान्ते राजा कदाचित्सन्ध्यामालोक्य प्राह—

'परिपतति पयोनिधौ पतङ्गः'

ततो बाणः प्राह—

'सरसिरुहामुदरेषु मत्तभृङ्गः।'

ततो महेश्वरकविः—

'उपवनतरुकोटरे विहङ्गः'

ततः कालिदासः प्राह—

'युवतिजनेषु शनैःशनैः (१) रनङ्गः' ॥ १६१ ॥

तुष्टो राजा लक्षं लक्षं ददौ। चतुर्थचरणस्य लक्षद्वयं ददौ।

कुछ समय व्यतीत हो जाने पर कभी राजा ने संध्याकाल को देखकर कहा—

'गिरता है जल निधि में पतंग (सूर्य)।'

तब बाण ने कहा—'सरसिज-उदरों में मत्तभृंग।'

इस पर महेश्वर कवि बोला—'उपवन-तरु-कोटर में विहंग।'

अन्त में कालिदास ने कहा—'तरुणी जन में क्रम-क्रम अनंग।'

संतुष्ट राजा ने लाख-लाख मुद्राएँ दीं, चौथे चरण पर दो लाख दिये

कदाचिद्राजा बहिरुद्यानमध्ये मार्गे प्रत्यागच्छन्तं कमपि विप्रं ददर्श। तस्य करे चर्ममयं कमण्डलुं वीक्ष्य तं चातिदरिद्रं ज्ञात्वा मुखश्रिया विराजमानं चावलोक्य तुरङ्गं तदग्रे निधायाह—'विप्र, चर्मपात्रं किमर्थं पाणौ वहसि' इति। स च विप्रो नूनं मुखशोभया मृदूक्त्या च भोज इति विचार्याह—'देव, वदान्यशिरोमणौ भोजे पृथ्वीं शासति लोहताम्राभावः समजनि। तेन चर्ममयं पात्रं वहामि, इति। राजा—'भोजे शासति लोहताम्राभावे को हेतुः।' तदा विप्रः पठति—

अस्य श्रीभोजराजस्य द्वयमेव सुदुर्लभम्।
शत्रूणां शृङ्खलैर्लौहं ताम्रं शासनपत्रकैः' ॥ १६२ ॥

ततस्तुष्टो राजा प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ।

---

(१) मन्मथः।

कभी राजा ने बाहरी उद्यान के मार्ग की ओर आते किसी विप्र को देखा। उसके हाथ में चमड़े का कमंडलु देख उसे अत्यन्त दरिद्र समझा किंतु उसके मुख को शोभा युक्त देख घोड़ा उसके आगे खड़ा करके कहा—'ब्राह्मण, चमड़े का पात्र क्यों लिये हो ?' मुख की शोभा और कथन की मृदुता के कारण यह समझ कर कि निश्चय ही यह राजा भोज है, उस ब्राह्मण ने कहा—'महाराज, दाता शिरोमणि भोज के धरती का शासन करते लोहे और ताँबे का अभाव हो गया है, इससे चमड़े का पात्र रखे हुए हूँ।' राजा—'भोज के शासन में लोहे और ताँबे का अभाव किस कारण से हुआ ? तो ब्राह्मण ने पढ़ा—

'दो पदार्थ अति दुर्लभ हैं श्री भोजराज के शासन में,
लोहा शत्रु-निमित्त बेड़ियों, ताम्र दान पत्रों के कारण ।'

तब संतुष्ट राजा ने प्रत्येक अक्षर पर लाख-लाख मुद्राएँ दीं।

कदाचिद् द्वारपालः प्राह—'धारेन्द्र, दूरदेशादागतः कश्चिद्विद्वान् द्वारि तिष्ठति, तत्पत्नी च। तत्पुत्रः सपत्नीकः अतोऽतिपवित्रं विद्वत्कुटुम्बं द्वारि तिष्ठति' इति। राजा—'अहो गरीयसी शारदाप्रसादपद्धतिः।' तस्मिन्नवसरे गजेन्द्रपाल आगत्य राजानं प्रणम्य प्राह—'भोजेन्द्र, सिंहलदेशाधीश्वरेण सपादशतं गजेन्द्राः प्रेषिताः षोडश महामणयश्च।' ततो बाणः प्राह—

'स्थितिः कवीनामिव कुञ्जराणां स्वमन्दिरे वा नृप-मन्दिरे वा।
गृहे गृहे किं मशका इवैते भवन्ति भूपालविभूषिताङ्गाः ॥१६३॥

तभी आकर द्वार पाल बोला—'हे धारा के स्वामी, दूर देश से आया कोई विद्वान् उसकी पत्नी और पत्नी सहित उसका पुत्र द्वार पर उपस्थित हैं।' राजा ने विचारा—'अहो, शारदा देवी अत्यन्त प्रसन्न हैं।' उसी अवसर पर गजराजों के पालक ने आकर प्रणाम करके कहा—'महाराज भोज, सिंहल देश के अधिराज ने सवा सौ हाथी और सोलह महामणियाँ भेजी है।' तो बाण ने कहा—

हाथियों की भाँति ही कवियों की स्थिति होती है—अपने घर में रहें अथवा राज मन्दिर में। परंतु हे धरती के पालक, ये अपने अंगों को सजा कर मच्छरों की भाँति घर-घर डोलते हैं।

ततो राजा गजानवलोकनाय बहिरगात् । ततस्तद्विद्वत्कुटुम्बं वीक्ष्य चोलपण्डितो राज्ञः प्रियोऽहमिति गर्वं दधार । यन्मया राजभवनमध्यं गम्यते । विद्वत्कुटुम्बं तु द्वारपालज्ञापितमपि बहिरास्ते । तदा राजा तच्चेतसि गर्वं विदित्वा चोलपण्डितं सौधाङ्गणान्निःसारितवान् ।

तब राजा हाथियों का निरीक्षण करने के लिए बाहर गया । तो उस विद्वान् के कुटुम्ब को देख चोल पंडित को यह अभिमान हुआ कि मैं राजा का प्यारा हूँ कि मैं राज भवन के मध्य हूँ और विद्वान् का कुटुम्ब तो द्वार पाल के द्वारा सूचित किया जाने पर भी बाहर ही है । तब राजा ने उसके चित्त में गर्व उत्पन्न हुआ जान चोल पंडित को प्रासाद के आँगन से निकलवा दिया ।

काशीदेशवासी कोऽपि तण्डुलदेवनामा राज्ञे 'स्वस्ति' इत्युक्त्वातिष्ठत् । राजा च तं पप्रच्छ—'सुमते, कुत्र निवासः ।' तण्डुलदेवः—

वर्तते यत्र सा वाणी कृपाणीरिक्तशाखिनः ।
श्रीमन्मालवभूपाल तत्र देशे वसाम्यहम्' ॥ १६४ ॥

तुष्टो राजा तस्मै गजेन्द्रसप्तकं ददौ ।

काशी देश का रहने वाला एक तंडुल देवनाम का कवि राजा के प्रति 'स्वस्ति' कह कर उपस्थित हुआ । राजा ने उससे पूछा—'हे सुबुद्धि, तुम्हारा निवास कहाँ है ? तंडुल देव—'हे मालव धरणी के पालक, मैं उस देश की वासी हूँ, जहाँ कृपाण के द्वारा शाखाओं का उन्मूलन होने पर भी वाणी विद्यमान रहती है । संतुष्ट हो राजा ने उसे सात हाथी दिये ।

ततः कोऽपि विद्वानागत्य प्राह—

'तपसः सम्पदः प्राप्यास्तत्तपोऽपि न विद्यते ।
येन त्वं भोज कल्पद्रुदृग्गोचरमुपैष्यसि ' ॥ १६५ ॥

तस्मै राजा दशगजेन्द्रान्ददौ ।

तदनन्तर एक विद्वान् ने आकर कहा—

'तप से संपत्तियाँ प्राप्त होती है, किन्तु मेरे पास वह तप भी नहीं है, जिससे कि कल्पवृक्ष के समान भोजराज, आप दृष्टि गोचर हों ।'

राजा ने उसे दस हाथी दे दिये ।

ततः कश्चिद्ब्राह्मणपुत्रो भूम्भारवं कुर्वाणोऽभ्येति । ततः सर्वे सम्भ्रान्ताः 'कथं भूम्भारवं करोषि' इति । राज्ञा स्वदृग्गोचरमानीतः पृष्टः । स प्राह—

'देव(१)त्वद्दानपाथोधौ दारिद्र्यस्य निमज्जतः।
न कोऽपि हि करालम्बं दत्ते मत्तेभदायक ॥ १६६ ॥

ततस्तुष्टो राजा तस्मै त्रिंशद्गजेन्द्रान्प्रादात्।

तत्पश्चात् एक ब्राह्मण का बेटा पुक्का-फाड़ रोता आया। सभी लोग आश्चर्य में पड़ गये कि यह क्यों पुक्का-फाड़ रो रहा है? राजा ने अपने संमुख बुलाया और पूछा। वह बोला—

'हे मतवाले हाथियों के दाता महाराज, आपके दान रूपी जलनिधि में डूबते हुए दारिद्र्य को कोई हाथ का सहारा भी नहीं दे रहा है।'

तो प्रसन्न हुए राजा ने उसे तीस गजराज दे डाले।

ततः प्रविशति पत्नीसहितः कोऽपि विलोचना विद्वान् 'स्वस्ति' इत्युक्त्वा प्राह—

'निजानपि गजान्भोजं ददानं प्रेक्ष्य पार्वती।
गजेन्द्रवदनं(२)पुत्रं रक्षत्यद्य पुनः पुनः' ॥ १६७ ॥

ततो राजा सप्त गजांस्तस्मै ददौ।

तदनंतर कोई नेत्र हीन पंडित पत्नी सहित आया और 'स्वस्ति' कहकर बोला—

'अपने हाथियों को भी दे डालने के इच्छुक भोज को देखकर पार्वती आज अपने गजराज के मुखवाले पुत्र की रक्षा बार-बार कर रही है।'

तो राजा ने सात हाथी उसे दे दिये।

ततो राजा विद्वत्कुटुम्बं तदैव पुरतः स्थितं वीक्ष्य ब्राह्मणं प्राह—

'क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे।'

तब राजा ने विद्वान् के कुटुम्ब को पूर्वोक्त रूप में ही सम्मुख खड़ा देख कहा—'बड़े जनों की क्रिया सिद्धि पौरुष से होती है, न कि साधन से।'

वृद्धद्विजः प्राह—

'घटो जन्मस्थानं मृगपरिजनो भूर्जवसनो
वने वासः कन्दादिकमशनमेवंविधगुणः।
अगस्त्यः पाथोधिं यदकृत कराम्भोजकुहरे
क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे' ॥

---

(१) तवदानसमुद्रे। (२) गजाननमिति यावत्।

ततो राजा बहुमूल्यानपि षोडशमणींस्तस्मै ददौ ।

जन्म स्थान है घड़ा, परिजन मृग, भोज पत्र के वस्त्र, वास कानन में, कंद मूल भोजन है—ऐसे साधन वाले मुनि अगस्त्य ने करसरोज के संपुट में रखकर जलनिधि को पी डाला । बड़े जनों की क्रिया सिद्धि पौरुष से होती है न कि साधन से । तो राजा ने बहुमूल्य सोलह मणियाँ भी उसे दे दीं ।

ततस्तत्पत्नीं प्राह राजा—'अम्ब, त्वमपि पठ ।' देवी—

'रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्त तुरगा
निरालम्बो मार्गश्चरणविकलः सारथिरपि ।
रविर्यात्येवान्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसः
क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे' ॥ १६९ ॥

राजा तुष्टः सप्तदश गजान्सप्त रथांश्च तस्यै ददौ ।

तत्पश्चात् राजा ने उसकी पत्नी से कहा—'माँ तुम भी पढ़ो ।' उस देवी ने पढ़ा—

रथ का चक्का एक, सांप की रस्सी में बँधे सात घोड़े, निराधार है पंथ चरणहीन है सारथि-रथ चालक, सूरज प्रतिदिन ही जाता है अन्त-भाग तक विस्तृत नभ के । बड़े जनों की क्रिया सिद्धि पौरुष से होती है, न कि साधन से । संतुष्ट राजा ने सत्रह हाथी और सात रथ उसे दिये ।

ततो विप्रपुत्रं प्राह राजा—'विप्रसुत, त्वमपि पठ' । विप्रसुतः—

'विजेतव्या लङ्का चरणतरणीयो जलनिधि-
र्विपक्षः पौलस्त्य रणभुवि सहायाश्च कपयः ।
पदातिर्मर्त्योऽसौ सकलमवधीद्राक्षसकुलं
क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे ॥ १७० ॥

तुष्टो राजा विप्रसुतायाष्टादश गजेन्द्रान्प्रादात् ।

तब राजा ने ब्राह्मण पुत्र से कहा—'हे विप्रसुत, तुम भी पढ़ो । ब्राह्मण के बेटे ने पढ़ा—

लंका नगरी जेय थी, पयोनिधि चरणों से तिरना था, प्रति पक्षी पुलस्त्य का बेटा रावण था, संग्राम भूमि में सहायक थे बंदर, पैदल मानव राम, उन्होंने संहारा सारा राक्षस कुल, बड़े जनों की क्रियासिद्धि पौरुष से होती है; न कि साधन से । राजा संतुष्ट होकर ब्राह्मण पुत्र को अठारह गजराज दिये ।

ततः सुकुमारमनोज्ञनिखिलाङ्गावयवालङ्कृतां शृङ्गाररसोपजातमूर्तिमेव चम्पकलतामिव लावण्यगात्रयष्टिं विप्रस्नुषां वीक्ष्य 'नूनं भारत्याः काऽपि लीलाकृतिरियम्' इति चेतसि नमस्कृत्य राजा प्राह—'मातः त्वमप्याशिषं वद'। विप्रस्नुषा—'देव, शृणु।

धनुः पौष्पं मौर्वी मधुकरमयी चञ्चलदृशां
दृशां कोणो बाणः सुहृदपि जडात्मा हिमकरः।
स्वयं चैकोऽ(१)नङ्गः सकलभुवनं व्याकुलयति
क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे' ॥ १७१ ॥

चमत्कृतो राजा लीलादेवीभूषणानि सर्वाण्यादाय तस्यै ददौ। अनर्घ्यांश्च सुवर्णमौक्तिकवैडूर्यप्रवालांश्च प्रददौ।

तदनन्तर सुकुमार और मनोहर समस्त अंगों से सुशोभित, मानो शृंगार रस की उपजात मूर्ति के सदृश चंपक की लता के समान सुन्दर देहयष्टि धारिणी ब्राह्मण की पुत्र वधू को देख कर और 'निश्चय ही यह वाग्देवी की कोई लीलामयी रचना है' ऐसा मान मन ही मन नमस्कार करकेउससे राजा ने कहा—'माँ, तुम भी कुछ आशीर्वचन स्वरूप कहो।' ब्राह्मण-पुत्र-वधू ने कहा—

'महाराज, सुनिए—

फूलों का धनु, प्रत्यंचा मधुकर श्रेणी की,
चपल नयनिओं के कटाक्ष के बाण, जडात्मा चंद्र मित्र है,
स्वयम् अकेला अंगहीन यह काम सकल भुवन को है व्याकुल कर देता,
बड़े जनों की क्रिया सिद्धि होती पौरुष से, न कि साधन से।

चमत्कृत राजा ने लीला देवी के सब आभूषण लेकर उसे दे डाले और तदनन्तर सोना, मोती, वैदूर्य (लहसुनिया) और मूँगे भी दिये।

ततः कदाचित्सीमन्तनामा कविः प्राह—

'पन्थाः संहर दीर्घतां त्यज निजं तेजः कठोरं रवे
श्रीमन्विन्ध्यगिरे प्रसीद सदयं सद्यः समीपे भव।
इत्थं दूरपलायनश्रमवतीं दृष्ट्वा निजप्रेयसीं
श्रीमन्भोज तव द्विषः प्रतिदिनं जल्पन्ति मूर्छन्ति च ॥१७२॥

---

(१) देहरहित इति यावत्।

तत्पश्चात् कभी सीमंत नामक कवि ने कहा—

'हे मार्ग, तुम लम्बाई को त्याग दो, हे सूर्य, तुम अपने कठोर तेज को छोड़ दो, हे श्रीमान् विंध्याचल, तुम प्रसन्न होकर दयापूर्वक शीघ्र ही निकट हो जाओ'—हे राजा भोज, आपके शत्रु (डर कर) दूर भागने के कारण थकी अपनी प्रेयसी को देखकर प्रतिदिन ऐसी बकवास करते हैं और मूर्च्छित हो जाते हैं।'

तस्मिन्नेव क्षणे कश्चित्सुवर्णकारः प्रान्तेषु पद्मरागमणिमण्डितं सुवर्णभाजनमादाय राज्ञः पुरो मुमोच। ततो राजा सीमन्तकविं प्राह—'सुकवे, इदं भाजनं कामपि श्रियं दर्शयति।' ततः कविराह—

'धारेश त्वत्प्रतापेन पराभूत(१)स्त्विषापतिः।
सुवर्णपात्रव्याजेन देव त्वामेव सेवते'॥ १७३॥

ततस्तुष्टो राजा तदेव पात्रं मुक्ताफलैरापूर्य प्रादात्।

उसी क्षण एक सुनार ने चारों ओर पद्म राग मणि-जड़ा सोने का एक पात्र लाकर राजा के सम्मुख रखा। तब राजा ने सीमन्त कवि से कहा—'हे सुकवे, देखो यह बरतन कितना सुन्दर है।' तो कवि ने कहा—

'हे धारा के स्वामी, आपके प्रताप के सम्मुख हारा सूर्य सुवर्ण पात्र के मिस हे देव, आपकी सेवा कर रहा है।'

तो संतुष्ट होकर राजा ने उसी पात्र को मोतियों से भर कर उसे दे दिया।

कदाचिद्राजा मृगयारसेन पुरः पलायमानं वराहं दृष्ट्वा स्वयमेकाकितया दूरं वनान्तमासादितवान्। तत्र कञ्चन द्विजवरमवलोक्य प्राह—'द्विज, कुत्र गन्तासि।'

द्विजः—'धारानगरम्।'

भोजः—'किमर्थम्।'

द्विजः—'भोजं द्रष्टुं द्रविणेच्छया। स पण्डिताय दत्ते। अहमपि मूर्खं न याचे।

भोजः—विप्र, तर्हि त्वं विद्वान्कविर्वा।

द्विजः—महाभाग, कविरहम्।

---

(१) सूर्यः।

भोजः—तर्हि किमपि पठ।

द्विजः—भोजं विना मत्पदसरणिं न कोऽपि जानाति।

भोजः—ममाप्यमरवाणीपरिज्ञानमस्ति। राजा च मयि स्निह्यति। त्वद्-गुणं च श्रावयिष्यामि। किमपि कलाकौशलं दर्शय।

विप्रः—किं वर्णयामि।

राजा—कलमानेतान्वर्णय।

विप्रः—'कलमाः पाकविनम्रा मूलतलाघ्रातसुरभिकह्लाराः।

पवनाकम्पितशिरसः प्रायः कुर्वन्ति परिमलश्लाघाम्'॥ १७४॥

राजा तस्मै सर्वाभरणान्युत्तार्य ददौ।

एक बार आखेट-रस में मग्न राजा भागते सूअर को देख कर स्वयम् अकेला (उसका पीछा करता) दूर वन में जा पहुँचा। वहाँ एक श्रेष्ठ ब्राह्मण को देख कर बोला—

द्विज, कहाँ जा रहे हो ?

द्विज—धारानगर।

राजा—किसलिए ?

द्विज—धन पाने की इच्छा से भोज के दर्शनार्थ। वह पंडित को देता है और मैं भी मूर्ख से याचना नहीं करता।

भोज—ब्राह्मण, तो तुम विद्वान् हो अथवा कवि हो।

द्विज—हे महाभाग, मैं कवि हूँ।

भोज—तो कुछ पढ़ो।

द्विज—भोज के अतिरिक्त मेरी कविता का अर्थ कोई नहीं समझ सकता।

राजा—मुझे भी देववाणी का ज्ञान है और मुझसे राजा स्नेह करता है। मैं तुम्हारे गुण उसे सुनाऊँगा। कुछ अपनी कला का कौशल दिखाओ।

द्विज—क्या वर्णन करूँ।

राजा—इन धानों का वर्णन करो।

द्विज—पकजाने से झुके हुए धानों की जड़ में शुष्क कमल दल की सुगंध है। करते हैं श्लाघा परिमल की मंद पवन में झूम-झूम कर।

राजा ने उसे सब आभूषण उतार कर दे दिये।

ततः कदाचित्कुम्भकारवधू राजगृहमेत्य द्वारपालं प्राह--द्वारपाल, राजा द्रष्टव्यः।' स आह--'किं ते राज्ञा कार्यम्। सा चाह--'न तेऽभिधास्यामि। नृपाग्र एव कथयामि।' स सभायामागत्यप्राह--'देव, कुम्भकारप्रिया काचिद्राज्ञो दर्शनाकाङ्क्षिणी न वक्ति मत्पुरः कार्यम्। भवत्पुरतः कथयिष्यति।' राज्ञा--'प्रवेशय।' सा चागत्य नमस्कृत्य वक्ति--

'देव मृत्खननाद्दृष्टं निधानं वल्लभेन मे।
स पश्यन्नेव तत्रास्ते त्वां ज्ञापयितुमभ्यगाम्'। १७५॥

तदनंतर कभी कुम्हार की पत्नी राज भवन पहुँचकर द्वारपाल से बोली-'द्वारपाल, राजा के दर्शन करना चाहती हूँ।' उसने पूछा--'राजा से तेरा क्या काम है?' वह बोली--'तुझसे नहीं कहूँगी। राजा के संमुख ही कहूँगी।' वह सभा में आकर बोला--'महाराज, आप के दर्शन की कांक्षिणी एक कुम्हारिन मुझे अपना कार्य नहीं बताती, आपके संमुख ही कहेगी। राजा ने कहा--'प्रवेश कराओ।' वह आकर और नमस्कार करके बोली--

'महाराज, मेरे प्रियतम ने मिट्टी खोदने पर धन देखा है, वे उसकी देख-रेख करते वहीं हैं, मैं आप से निवेदन करने आयी हूँ।'

राजा च चमत्कृतो निधानकलशमानयामास। तद्द्वारमुद्घाट्य यावत्पश्यति राजा तावत्तदन्तर्वर्तिद्रव्यमणिप्रभामण्डलमालोक्य कुम्भकार पृच्छति--'किमेतत्कुम्भकार।' स चाह--

'राजचन्द्रं समालोक्य त्वां तु भूतलमागतम्।
(१)रत्नश्रेणिमिषान्मन्ये नक्षत्राण्यभ्युपागमन्'॥ १७६॥

राजा कुम्भकारमुखाच्छ्लोकं लोकोत्तरमाकर्ण्य चमत्कृतस्तस्मै सर्वं ददौ।

आश्चर्यान्वित राजा ने धन का कलसा मँगवाया और उसका मुँह खोलकर जैसे ही उसे देखा, वैसे ही उसके भीतर रखे धन और मणियों के प्रभामंडल को देखकर कुम्भकार से पूछा--'हे कुंभकार, यह क्या है?' वह बोला-

'धरणी तल पर आये आप राजा रूपी चन्द्रमा को देखकर रत्नों के रूप से मानो नक्षत्र आ गये हैं।'

---

(१) रत्नपङ्क्तिव्याजेनेत्यर्थः।

राजा ने कुम्हार के मुँह से लोकोत्तर श्लोक सुनकर चमत्कृत हो उसे वह सब धन दे दिया।

—:o:—

(१२) भोजस्य विक्रमादित्यसमं दानम् ।

ततः कदाचिद्राजा रात्रावेकाकी सर्वतो नगरचेष्टितं, पश्यन्पौरगिरमाकर्णयंश्चचार। तदा क्वचिद्वैश्यगृहे वैश्यः स्वप्रियां प्राह—'प्रिये, राजा स्वल्पदानरतोऽप्युज्जयिनीनगराधिपतेर्विक्रमार्कस्य दानप्रतिष्ठां काङ्क्षते। सा किं भोजेन प्राप्यते। कैश्चित्स्तोत्रपरायणैर्मयूरादिकविभिर्महिमानं प्रापितो भोजः। परन्तु भोजो भोज एव। प्रिये, शृणु।

आबद्धकृत्रिमसटाजटिलांसभित्तिरारोपितो यदि पदं मृगवैरिणः श्वा।
मत्तेभकुम्भतटपाटनलम्पटस्य नादं करिष्यति कथं (१)हरिणाधिपस्य'।१७७

फिर कभी राजा रात में अकेला सब ओर नगर व्यापार देखता, पुरवासियों की बातचीत सुनता विचरण कर रहा था। तभी एक वैश्य के घर में वैश्य अपनी प्रिया से बोला—'प्रिये, थोड़ा दान करके भी राजा उज्जयिनी नगर के अधिपति विक्रमादित्य को प्राप्त दान-प्रतिष्ठा की आकांक्षा करता है। क्या वह भोज को मिल सकी है? कुछ स्तुति परायण मयूरादि कवियों ने भोज को महिमा प्राप्त करा दी है, परंतु भोज भोज ही है।

प्रिये, सुनो—

वनावटी सटाओं मे परिपूर्ण खाल उढ़ा कर यदि कुत्ता मृगों के शत्रु सिंह के पद पर आरोपित कर दिया जाय तो वह क्या मदमत्त हाथियों की कुम्भ स्थली का विदारण करने के व्यसनी मृगराज का नाद कर सकेगा?

राजा श्रुत्वा विचारितवान्—'असौ सत्यमेव वदति।' ततः पुनः पुनर्वदन्तं शृणोति—

राजा ने सुनकर विचारा—'यह ठीक ही कहता है।' तब फिर उसे पुनः कहते हुए सुनने लगा—

'आपन्न एव पात्रं देहीत्युच्चारणं न वैदुष्यम्।
उपपन्नमेव देयं त्यागस्ते विक्रमार्क किमु वर्ण्यः॥ १७८॥

---

(१) सिंहस्येत्यर्थः।

विक्रमार्क त्वया दत्तं श्रीमन्ग्रामशताष्टकम् ।
अर्थिने द्विजपुत्राय भोजे त्वन्महिमा कुतः ॥ १७९ ॥
प्राप्नोति कुम्भकारो महिमानं प्रजापतेः ।
यदि भोजोऽप्यवाप्नोऽति प्रतिष्ठां तव विक्रम' ॥ १८० ॥

'हे विक्रमादित्य, तुम्हारे त्याग का वर्णन कैसे हो ?' तुम इसे उचित नहं समझते थे कि कोई अभागा 'बरतन दो'—ऐसा आकर भी बोले, इतना पर्या देना उचित समझते थे कि मँगता भविष्य में मँगता रह ही न जाय। श्रीमान् विक्रमादित्य, तुमने याचक ब्राह्मण पुत्र को एक सौ आठ गाँव दे दि थे, भोज को आप जैसी महिमा कहाँ से प्राप्त हो ?

हे विक्रमादित्य, यदि कुम्हार भी प्रजापति ब्रह्मा की महिमा प्राप्त क सकता है, तो भोज भी आपके समान प्रतिष्ठा पा सकता है।'

राजा—'लोके सर्वोऽपि जनः स्वगृहे निःशङ्कं सत्यं वदति। मय वान्येन वा सर्वथा विक्रमार्कप्रतिष्ठा न शक्या प्राप्तुम्'।

राजा ने सोचा—संसार में सभी लोग अपने घर में निःशंक हो सत्य कहते हैं। मैं अथवा अन्य कोई विक्रमादित्य की प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सकता

ततः कदाचित्कश्चित्कवी राजद्वारं समागत्याह—'राजा द्रष्टव्यः इति। ततः प्रवेशितो राजानं 'स्वस्ति' इत्युक्त्वा तदाज्ञयोपविष्टः पठति-

'कविषु वादिषु भोगिषु देहिषु द्रविणवत्सु सतामुपकारिषु ।
धनिषु धन्विषु धर्मधनेष्वपि क्षितितले नहि भोजसमो नृपः ॥१८१॥

राजा तस्मै लक्षं प्रादात्। सर्वाभरणान्युत्तार्य तं च तुरगं ददौ।

फिर कभी एक कवि राजद्वार में आकर बोला—'राजा का दर्शन चाहत हूँ।' तदनन्तर प्रविष्ट किये जाने पर राजा को 'स्वस्ति' यह कह कर उसर्क आज्ञा से बैठकर उसने पढ़ा—

भूतल पर कवियों, वक्ताओं, भोगियों, शरीरधारियों, पैसे वालों, सज्जन के उपकारियों, धनियों, धनुर्धारियों और धार्मिकों में भोज के समान नरपाल नहीं है।

राजा ने उसे लाख मुद्राएँ दी और उतार कर समस्त आभूषण और घोड़ा दिया।

ततः कदाचिद्राजा क्रीडोद्यानं प्रस्थितो मध्ये मार्गं कामपि मलिनांशुवसनां(१)तीक्ष्णतरतपनकरविदग्धमुखारविन्दां सुलोचनां लोचनाभ्यामालोक्य पप्रच्छ—

'का त्वं पुत्रि' इति।

सा च तं श्रीभोजभूपालं मुखश्रिया विदित्वा तुष्टा प्राह—

'नृरेन्द्र, लुब्धकवधूः'

हर्षसम्भृतो राजा तस्याः पदुबन्धानुबन्धेनाह—

'हस्ते किमेतत्'

सा चाह—'पलम्'

राजाह—'क्षामं किम्'

सा चाह—'सहजं ब्रवीमि नृपते यद्यादराच्छ्रूयते।

गायन्ति त्वदरिप्रियाश्रुतटिनीतीरेषु सिद्धाङ्गना।

गीतान्धा न तृणं चरन्ति हरिणास्तेनामिषं दुर्बलम्' ॥१८२॥

राजा तस्यै प्रत्यक्षरं लक्षं प्रादात्।

तदनंतर कभी राजा ने क्रीडा वाटिका को जाते हुए बीच रास्ते में किसी मलिन वस्त्र धारिणी, तीव्र सूर्य किरणों से झुलसे मुख कमल वाली, सुनयना को अपनी आँखों से देख कर पूछा—

'बेटी, तुम कौन हो?'

मुख की कांति से उसे श्रीमान् राजा भोज समझ कर संतुष्ट हो वह बोली—

'राजन्, मैं हूँ व्याध पत्नी।'

उसकी सुन्दर पद-योजना से प्रसन्नता में भर कर राजा ने कहा—

'क्या है यह हाथ में?'

वह बोली—'मांस है।'

राजा ने कहा—'सूखा है क्यों?'

वह बोली—'कहती हूँ स्पष्ट, यदि आदर से सुनें आप—

गाती हैं, सुरांगनाएँ आपके वैरियों की प्रियाओं के आँसू से बनीं नदियों के तीर पर—

---

(१) सूर्योष्णकिरणदग्धामित्यर्थः।

गीतों पर अंधे बने मृग न घास चरते हैं,
उनका ही मांस है यह--दुर्बल, सूखा हुआ।

राजा ने उसे प्रति अक्षर लाख मुद्राएँ दीं।

ततो गृहमागत्य गवाक्ष उपविष्टः। तत्र चासीनं भोजं दृष्ट्वा राजवर्त्मनि स्थित्वा कश्चिदाह--'देव, सकलमहीपाल, आकर्णय।

इतश्चेतश्चाद्भिर्विघटिततटः सेतुरुदरे
धरित्री दुर्लङ्घ्या बहुलहिमपङ्को गिरिरियम्।
इदानीं निर्वृत्ते करितुरगनीराजनविधौ
न जाने यातारस्तव च रिपवः केन च पथा' ॥१८३॥

तुष्टो भोजो वर्त्मनि स्थितायैव तस्मै वंश्यान्पञ्च गजान्ददौ।

तदनंतर घर, आकर राजा झरोखे में बैठ गया। वहाँ बैठे भोज को देखकर मार्ग में खड़े होकर किसी ने कहा--'देव, संपूर्ण धरती के पालनकर्ता, सुनिए--

'इतस्ततः जल के कारण सेतु (पुल) के तट बीच में से टूट गये हैं, धरती दुर्लंघ्य है और यह पर्वत भी बहुत हिमपात से पंकिल हो गया है। इस समय हाथी-घोड़ों (के सैन्य) के तैयार हो जाने पर आपके वैरी न जाने किस मार्ग से भाग पायेंगे?'

संतुष्ट भोज ने मार्ग में ही खड़े उस व्यक्ति को श्रेष्ठ पाँच हाथी दिये।

कदाचिद्राजा मृगयारसपराधीनो हयमारुह्य प्रतस्थे।

ततो नदीं समुत्तीर्णं शिरस्यारोपितेन्धनम्।
वेषेण ब्राह्मणं ज्ञात्वा राजा पप्रच्छ सत्वरम्॥ १८४॥

कभी राजा आखेट रस के अधीन हो घोड़े पर चढ़े जा रहे थे तब नदी पार करते सिर पर ईंधन रखे एक व्यक्ति को वेष से उसे ब्राह्मण जान कर राजा ने तुरंत उससे पूछा।

राजा--कियन्मानं जलं विप्र।

स आह--'जानुदघ्नं नराधिप।'

चमत्कृतो राजाह--'ईदृशी किमवस्था ते'

स आह--'नहि सर्वे भवादृशाः' ॥ १८५॥

राजा—हे विप्र; जल कितना गहरा है ? (जल कितना मान है ?)
वह बोला—हे राजन्, घुटनों तक है । (जानुदघ्न महाराज ।)
अचरज में भर राजा—तुम्हारी यह अवस्था कैसी है ?
(ऐसी तेरी दशा क्यों ?)
वह बोला—सब आप जैसे नहीं हैं । (तेरे जैसे सब नहीं ।)

राजा प्राह कुतूहलात्—'विद्वन्, याचस्व कोशाधिकारिणम् । लक्षं दास्यति मद्वचसा ।' ततो विद्वान्काष्ठं भूमौ निक्षिप्य कोशाधिकारिणं गत्वा प्राह—'महाराजेन प्रेषितोऽहम् । लक्षं मे दीयताम् ।' ततः स हसन्नाह—'विप्र, भवन्मूर्तिर्लक्षं नार्हति ।'

राजा ने कुतूहल से पूर्ण हो कहा—'हे पंडित, कोशाधिकारी से माँगों । मेरी आज्ञा से लाख मुद्राएँ देगा ।' सो विद्वान् लकड़ियाँ धरती पर डाल कर कोशाधिकारी से जाकर बोला—'मुझे महाराज ने भेजा है । मुझे लाख मुद्राएँ दो ।' वह हँसता हुआ बोला—'ब्राह्मण, आपका स्वरूप लाख पाने योग्य नहीं प्रतीत होता ।'

ततो विषादी स राजानमेत्याह—'स पुनर्हसति देव, नार्पयति ।' राजा कुतूहलादाह—'लक्षद्वयं प्रार्थय । दास्यति ।' पुनरागत्य विप्रः 'लक्षद्वयं देयमिति राज्ञोक्तम्' इत्याह । स पुनर्हसति ।

तो विषाद पूर्ण हो वह जाकर राजा से बोला—'महाराज, वह तो हँसता है, देता नहीं ।' राजा कुतूहल से बोला—'दो लाख माँगो, देगा ।' ब्राह्मण पहुँच कर फिर बोला—'राजा ने कहा है कि दो लाख देना है ।' वह फिर हँसने लगा ।

विप्रः पुनरपि भोजं प्राप्याह—'स पापिष्ठो मां हसति नार्पयति ।' ततः कौतूहली लीलानिधिर्महीं शासञ्श्रीभोजराजः प्राह-'विप्र, लक्षत्रयं याचस्व । अवश्यं स दास्यति ।' स पुनरेत्य प्राह—'राजा मे लक्षत्रयं दापयति ।' स पुनर्हसति ।

ब्राह्मण ने फिर भोज के पास पहुँच कर कहा—'वह पापी मुझ पर हँसता है, देता नहीं ।' तब कौतुकी और लीला के आगार, पृथ्वी के शासक श्री भोजराज ने कहा—'विप्र, तीन लाख माँगो, वह अवश्य देगा ।' वह फिर

पहुँच कर बोला—'राजा ने मुझे तीन लाख देने को कहा है।' वह फिर हँसने लगा।

ततः क्रुद्धो विप्रः पुनरेत्याह—'देव, स नार्पयत्येव।

राजन्कनकधाराभिस्त्वयि सर्वत्र वर्षति।
अभाग्यच्छत्रसंछन्ने मयि नायान्ति विन्दवः॥ १८६॥

त्वयि वर्षति पर्जन्ये सर्वे पल्लविता द्रुमा।
अस्माकमर्कवृक्षाणां पूर्वपत्रेषु संशयः॥ १८७॥

एकमस्य परमेकमुद्यमं निस्त्रपत्वमपरस्य वस्तुनः।
नित्यमुष्णमहसा निरस्यते नित्यमन्धतमसं प्रधावति'॥१८८॥

तब कुछ क्रुद्ध ब्राह्मण फिर राजा के पास जाकर बोला—'महाराज, वह देता ही नहीं। राजन्, आप सर्वत्र स्वर्ण धाराओं की वर्षा कर रहे हैं, परन्तु अभाग्य के छाते से ढके मुझपर बूँदें गिरती ही नहीं।

तुझ मेघ के बरसने पर सब वृक्षों पर नये पत्ते आगए पर हमारे मदार के पुराने पत्ते ही संदेहास्पद हो गये।

एक ही—बस एक ही परम उद्योग है, दूसरे के प्रति निर्लज्जता धारण कर लेना। प्रतिदिन सूर्य द्वारा भगा दिया जाता है, परन्तु घोर अंधकार प्रतिदिन ही फिर दौड़ा आता है।'

ततो राजा प्राह—

'क्रोधं मा कुरु मद्वाक्याद्गत्वा कोशाधिकारिणम्।
लक्षत्रयं गजेन्द्राश्च दश ग्राह्यास्त्वया द्विज'॥ १८९॥

ततस्त्वङ्गरक्षकं प्रेषयति। ततः कोशाधिकारी धर्मपत्रे लिखति—

'लक्षं लक्षं पुनर्लक्षं मत्ताश्च दश दन्तिनः।
दत्ता भोजेन तुष्टेन जानुदघ्नप्रभाषणात्'॥ १९०॥

तब राजा ने कहा—

'हे ब्राह्मण; क्रोध मत करो, कोशाधिकारी के पास जाकर मेरी आज्ञा से तीन लाख मुद्राएँ और दस हाथी ले लो।'

और अंगरक्षक को (ब्राह्मण के साथ) भेज दिया। तब धर्म पत्र पर कोशाधिकारी ने लिखा—

'जानुदघ्न' कहने पर संतुष्ट हुए भोजराज ने लाख; लाख और फिर लाख मुद्राएँ और दस मदमत्त हाथी दिये।'

ततः सिंहासनमलङ्कुर्वाणे श्रीभोजनृपतौ द्वारपाल आगत्य प्राह--'राजन् कोऽपि शुकदेवनामा कविर्दारिद्र्यविडम्बितो द्वारि वर्तते'। राजा वाणं प्राह--'पण्डितवर, सुकवे, तत्त्वं विजानासि।' बाणः--'देव, शुकदेवपरिज्ञानासामर्थ्याभिज्ञः कालिदास एव, नान्यः।' राजा--'सुकवे, सखे कालिदास, किं विजानासि शुकदेवकविम्।' इत्याह--

एक बार नरपति श्री भोजराज सिंहासन को सुशोभित कर रहे थे कि द्वारपाल आकर बोला--'महाराज, दरिद्रता की विडंवना में पड़ा कोई शुकदेव नाम का पंडित द्वार पर उपस्थित है।' राजा ने वाण से कहा--'पंडितवर, सुकवे, तुम शुकदेव की विद्वत्ता जानते हो?' वाणा ने कहा--'देव, शुकदेव को पूर्णतया जानने वाला कालिदास ही है, अन्य नहीं।' राजा ने पूछा--'सुकवि मित्र कालिदास, तुम शुकदेव कवि को जानते हो?'

कालिदासः--'देव,

सुकविर्द्वितयं जाने निखिलेऽपि महीतले।
भवभूतिः शुकश्चायं वाल्मीकिस्त्रितयोऽनयोः' ॥ १९१ ॥

कालिदास ने कहा--'देव,

संपूर्ण भूतल पर मैं सुकवियों की जोड़ी (दुगड्डा–जोड़ी) जानता हूँ—एक भवभूति और यह शुक। इन दोनों का वाल्मीकि के साथ त्रितय (तिकड़ी) वनता है।'

ततो विद्वद्वृन्दवन्दिता सीता प्राह—

'काकाः किं किं न कुर्वन्ति क्रोङ्कारं यत्र तत्र वा।
शुक एव परं वक्ति(१)नृपहस्तोपलालितः' ॥ १९२ ॥

तदनंतर विद्वज्जनों द्वारा पूजित सीता ने कहा—

'जहाँ-तहाँ कौए कितनी काँव-काँव नहीं किया करते? परन्तु, वोलता राजा के हाथों लाड पाने वाला शुक ही है।'

ततो मयूरः प्राह—

---

(१) नृपस्य हस्तेनोपलालितः।

'अपृष्टस्तु नरः किञ्चिद्यो ब्रूते राजसंसदि ।
न केवलमसम्मानं लभते च विडम्बनाम् ।। १९३ ।।

तब मयूर ने कहा--

'जो राजसभा में विना पूछे जाने पर बोलता है, वह केवल असंमान ही नहीं पाता, उपहसित भी होता है ।

देव, तथाप्युच्यते--

का सभा किं कविज्ञानं रसिकाः कवयश्च के ।
भोज किं नाम ते दानं शुकस्तुष्यति येन सः ।। १९४ ।।

तथापि भवनद्वारमागतः शुकदेवः सभायामानेतव्य एव ।'

महाराज, तथापि कहता हूँ—

भोजराज, क्या तो आपकी सभा है और क्या कविज्ञान है और रसिक कवि ही क्या हैं ? आपका दान भी क्या है, जिससे वह शुक संतुष्ट होगा ? तो भी महल के द्वार पर आये शुकदेव को सभा में लाना ही चाहिए ।

तदा राजा विचारयति शुकदेवसामर्थ्यं श्रुत्वा हर्षविषादयोः पात्रमासीत् । महाकविरवलोकित इति हर्षः । अस्मै सत्कविकोटिमुकुटमणये किं नाम देयमिति च विषादः । 'भवतु । द्वारपाल, प्रवेशय ।'

तो राजा ने सोचा, शुकदेव के सामर्थ्य को सुनकर प्रसन्नता और दुःख-दोनों का अनुभव हुआ । महाकवि को देखा—इसकी प्रसन्नता और श्रेष्ठकवि मंडल के मुकुट मणि स्वरूप इसे दिया क्या जायगा---इसका दुःख । जो हो । द्वारपाल, कवि को भीतर लाओ, (राजा ने आज्ञा दी) ।

तत आयान्तं शुकदेवं दृष्ट्वा राजा सिंहासनादुदतिष्ठत् । सर्वे पण्डितास्तं शुकदेवं प्रणम्य सविनयमुपवेशयन्ति । स च राजा तं सिंहासन उपवेश्य स्वयं तदाज्ञयोपविष्टः ।

फिर शुकदेव को आता देख राजा सिंहासन से उठ खड़ा हुआ । सब पंडित उस शुकदेव को प्रणाम करके विनय पूर्वक आसन देने लगे । राजा उसे सिंहासन पर बैठा कर स्वयम् उसकी आज्ञा से बैठा ।

ततः शुकदेवः प्राह---'देव, धारानाथ, श्रीविक्रमनरेन्द्रस्य या दानलक्ष्मीस्त्वामेव सेवते । देवः मालवेन्द्र एव धन्यः नान्ये भभुजः, यस्य ते

कालिदासादयो महाकवयः सूत्रबद्धाः पक्षिण एव निवसन्ति।' ततः पठति--

'प्रतापभीत्या भोजस्य तपनो मित्रतामगात्।
और्वो वाडवतां धत्ते तडित्क्षणिकतां गता'॥ १९५॥

तदनंतर शुकदेव ने कहा--'महाराज, धारा के अधिपति, श्रीविक्रम महाराज की जो दान लक्ष्मी है वह आपकी ही सेवा कर रही है। देव, धन्य केवल आप मालवाधिपति ही हैं, जिन आपके यहाँ कालिदास आदि महाकवि डोरी में बँधे पक्षियों की भाँति निवास करते हैं--अन्य धरती को भोगने वाले राजा नहीं। फिर पढ़ा--

भोज के प्रताप से डरकर तपनशील सूर्य 'मित्र' (सूर्य का अपर पर्याय तथा सखा) बन गया, 'और्व' (च्यवन-पौत्र अग्नि-स्वरूप तेजस्वी भृगुऋषि जिन्होंने कालांतर में सगर को अग्नेयास्त्र दिया--तथा सागर में रहने वाली वडवाग्नि) ने वडवाग्नि का रूप लिया और बिजली क्षणभर चमकने वाली बन गयी (चंचला)।

राजा--'तिष्ठ सुकवे, नापरः श्लोकः पठनीयः।'

'सुवर्णकलशं प्रादाद्दिव्यमाणिक्यसम्भृतम्।
भोजः शुकाय सन्तुष्टो दन्तिनश्च चतुःशतम्'॥ १९६॥

इति पुण्यपत्रे लिखित्वा सर्वं दत्त्वा कोशाधिकारी शुकं प्रस्थापयामास। राजा स्वदेशं प्रतिगतं शुकं ज्ञात्वा तुतोष। सा च परिषत्सन्तुष्टा।

राजा ने कहा--'हे सुकवि, रुकिये, दूसरा श्लोक न पढ़िए।'

'संतुष्ट भोज ने अलौकिक मणियों से परिपूर्ण स्वर्ण कलश और चार सौ दंती हाथी शुक को दिये।'--यह पुण्यपत्र पर लिख कर और सब कुछ देकर कोशाधिकारी ने शुक को विदा किया। शुक अपने देश चला गया--यह जानकर राजा को तुष्टि हुई। --:०:--

१३--भोजस्य काव्यानुरागः कतिपयकथा

अन्यथा वर्षाकाले वासुदेवो नाम कविः कश्चिदागत्य राजानं दृष्टवान्। राजाह--'सुकवे, पर्जन्यं पठ।' अतः कविराह--

---

(१) धुरि साधुः धौरेयः।

'नो चिन्तामणिभिर्न कल्पतरुभिर्नो कामधेन्वादिभि-
र्नो देवैश्च परोपकारनिरतैः स्थूलैर्न सूक्ष्मैरपि।
अम्भोदेह निरन्तरं जलभरैस्तामुर्वरां सिञ्चतां
(१)धौरेयेण धुरं त्वयाद्य वहता मन्ये जगज्जीवति ।१९७।

राजा लक्षं ददौ।

दूसरी बार वर्षा ऋतु में एक वासुदेव नामक कवि ने आकर राजा का दर्शन किया। राजा ने कहा—'हे सुकवि, मेघ पर पढ़ो।' तो कवि ने कहा—

आज यह जगत् न तो चिंतामणियों, न कल्पवृक्षों और न कामधेनु आदि के कारण जीवित है और न परोपकार में संलग्न बड़े-छोटे अन्य देवों के कारण, हे जलदाता यह जीवित है निरंतर जल धाराओं में इस धरती को सींचकर उर्वरा बनाते धुराधारी तेरे धुरा को धारण करने के कारण। राजा ने लाख मुद्राएँ दीं।

कदाचिद्राजानं निरन्तरं दीयमानमालोक्य मुख्यामात्यो वक्तुमशक्तो राज्ञः शयनभवनभित्तौ व्यक्तान्यक्षराणि लिखितवान्—

'आपदर्थं धनं रक्षेत्'

राजा शयनादुत्थितो गच्छन्भित्तौ तान्यक्षराणि वीक्ष्य स्वयं द्वितीयचरणं लिलेख—श्रीमतामापदः कुतः।

अपरेद्युरमात्यो द्वितीय चरणं लिखितं दृष्ट्वा स्वयं तृतीयं लिलेख-

'सा चेदपगता लक्ष्मीः'

परेद्यु राजा चतुर्थ चरणं लिखति—'सञ्चितार्थो विनश्यति' ॥ १९८ ॥

ततो मुख्यामात्यो राज्ञः पादयोः पतति—'देव, क्षन्तव्योऽयं ममापराधः।

एक बार राजा को निरन्तर दान करते देख कुछ मुँह से कहने में असमर्थ मुख्य मंत्री ने राजा के शयन गृह की दीवार पर स्पष्ट अक्षरों में लिख दिया—

'आपत्काल निमित्त उचित है धन की रक्षा।'

सोकर जागे राजा ने जाते हुए दीवार पर उन अक्षरों को देखकर स्वयं दूसरा चरण लिखा—'श्रीमन्तों पर भला कहाँ आपत् आती है?'

दूसरे दिन दूसरा चरण लिखा देख मंत्री ने स्वयं तीसरा चरण लिख दिया—'यदि वह लक्ष्मी चली जाय तो फिर क्या होगा ?' अगले दिन राजा ने चौथा चरण लिख दिया—'उसके संग ही चला जायगा सब संचित धन।' तो मुख्य मंत्री राजा के चरणों में गिर गया और बोला—'महाराज, मेरा यह अपराध क्षमा करें।'

अन्यदा धाराधीश्वरमुपरि सौधभूमौ शयानं मत्वा कश्चिद्द्विजचोरः खातपातपूर्वं राज्ञः कोशगृहं प्रविश्य बहूनि विविधरत्नानि वैडूर्यादीनि हृत्वा तानि परलोकऋणानि मत्वा तत्रैव वैराग्यमापन्नो विचारयामास—

'यद्व्यङ्गाः कुष्ठिनश्चान्धाः पङ्गवश्च दरिद्रिणः।
पूर्वोपार्जितपापस्य फलमश्नन्ति देहिनः' ॥ १९९ ॥

और एकबार धाराधिपति को ऊपर प्रासाद में सोया जान कोई ब्राह्मण चोर सेंध लगा कर राजा के खजाने में घुस गया और बहुत से अनेक प्रकार के रत्न लहसुनिया आदि चुराकर और यह समझ कर कि यह सब परलोक में चुकाया जाने के निमित्त ऋण उसपर चढ़ गया, वैराग्य को प्राप्त हो विचारने लगा—

अंगहीन, कोढ़ी, अंधे, लंगड़े और दरिद्री देहधारी प्राणी संचित पाप का फल भोगा करते हैं।

ततो राजा निद्राक्षये दिव्यशयनस्थितो विविधमणिकङ्कणालङ्कृतं दयितवर्गं दर्शनीयमालोक्य गजतुरगरथपदातिसामग्रीं च चिन्तयन् राज्यसुखसन्तुष्टः प्रमोदभरादाह—

'चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः
सद्बान्धवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः।
वल्गन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः'

इति चरणत्रयं राज्ञोक्तम्। चतुर्थचरणं राज्ञो मुखान्न निःसरति तदा चोरेण श्रुत्वा पूरितम्—

'सम्मीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति' ॥ २०० ॥

तदनंतर नींद टूटने पर दिव्य शैया पर बैठा, अनेक विध मणि जटित कंकणों से सुसज्जित अपनी प्रिया मंडली और हाथी, घोड़े, रथ और पैदल

सेना के वैभव को देख राज्यसुख से संतुष्ट विचार करता राजा उल्लास से परिपूर्ण हो बोला—

'मनोहर युवतियाँ, अनुकूल मित्र, अच्छे और प्रेममयी वाणी बोलने वाले बंधुगण और सेवक और चिघाड़ते हिन हिनाते हाथी और पानी दार घोड़े—

(मनोहर युवति, मित्र अनुकूल, प्रणय भापी सद बंधु, सुभृत्य, मत्तगज-राज, पवन गति अश्व—)

इस प्रकार राजा श्लोक के तीन चरण कह गया, पर चतुर्थ चरण उसके मुख से न निकला तो सुनकर चोर ने पूर्ति कर दी—

'नेत्रबंद करने पर कुछ नहीं है।' (मूँदलो नयन, न कुछ अवशिष्ट)।'

(मूँदहुनयन कतहुँ कछु नाहीं—गो० तुलसीदास।)

ततो ग्रथितग्रन्थो राजा चोरं वीक्ष्य तस्मै वीरवलयमदात्। ततस्तस्करो वीरवलयमादाय ब्राह्मणगृहं गत्वा शयानं ब्राह्मणमुत्थाप्य तस्मै दत्त्वा प्राह—'विप्र, एतद्राज्ञः पाणिवलयं बहुमूल्यम् अल्पमूल्येन न विक्रेयम्।' ततो ब्राह्मणः पण्यवीथ्यां तद्विक्रीय दिव्यभूषणानि पट्टदुकूलानि च जग्राह। ततो राजकीयाः केचनैनं चोरं मन्यमाना राज्ञे निवेदयन्ति। ततो राजनिकटे नीतः।

तब पद्य के पूर्ण हो जाने पर राजा ने चोर को देखकर उसे वीर-कंकण दिया। वह चोर वीर कंकण लेकर एक ब्राह्मण के घर पहुँचा और सोते ब्राह्मण को जगाकर उसे कंकण देकर बोला—'विप्रवर, यह राजा के हाथ का कंगन है, यह बहुमूल्य है, थोड़े मूल्य पर न वेंचना तो ब्राह्मण ने हाट बाजार में उसे वेंचकर दिव्य आभूषण और रेशमी वस्त्र खरीद लिये। तो कुछ राज्य कर्मचारियों ने उसे चोर समझा और राजा से निवेदन किया। ब्राह्मण राजा के पास ले जाया गया।

राजा पृच्छति—'विटधार्यं पटमपि नास्ति। अद्य प्रातरेव दिव्यकुण्डलाभरणपट्टदुकूलानि कुतः?' विप्रः प्राह—

'भेकैः कोटरशायिभिर्मृतमिव क्ष्मान्तर्गतं कच्छपैः
पाठीनैः पृथुपङ्कपीठलुठनाद्यास्मिन् मुहुर्मूर्छितम्।
तस्मिञ्छुष्कसरस्यकालजलदेनागत्य तच्चेष्टितं
यत्राकुम्भनिमग्नवन्यकरिणां यूथैः पयः पीयते' ॥ २०१ ॥

तुष्टो राजा तस्मै वीरवलयं चोरप्रदत्तं निश्चित्य स्वयं च लक्षं ददौ।

राजा ने पूछा—'तुम्हारे पास एक अति सामान्य व्यक्ति के धारण योग्य वस्त्र तक नहीं हैं, आज प्रातः काल ही दिव्य कुंडल आभूषण और रेशमी वस्त्र कहाँ से मिल गये ?' ब्राह्मण ने कहा—

जिस सरोवर में मेढ़क और कछुए धरती के भीतर मृतक के समान बिलों में सोये पड़े थे और भारी कीचड़ में तड़पती मछलियाँ मूर्च्छित हो चली थीं, एक असमय के बादल ने आकर उस सूखे ताल में ऐसा कर दिया कि आज वहाँ सिर तक डूबे वन-हस्तियों के झुण्ड जल पी रहे हैं।

संतुष्ट राजा ने समझ लिया कि जो वीर कंकण चोर को दिया गया था, वह उसने इसे ही दे दिया है और स्वयम् उसे लाख मुद्राएँ दीं।

—:o:—

(१४) विष्णु-कविः

अन्यदा कोऽपि कवीश्वरो विष्ण्वाख्यो राजद्वारि समागत्य तैः प्रवेशितो राजानं दृष्ट्वा स्वस्तिपूर्वकं प्राह—

'धाराधीश धरामहेन्द्रगणनाकौतूहलीयानयं
वेधास्त्वद्गणने चकार खटिकाखण्डेन रेखां दिवि।
सैवेयं त्रिदशापगा समभवत्त्वत्तुल्यभूमीधरा-
भावात्तु त्यजति स्म सोऽयमवनीपीठे तुषाराचलः॥'

राजा लोकोत्तरं श्लोकमाकर्ण्य 'किं देयम्' इति व्यचिन्तयत्।

और बार एक विष्णु नामक कविराज राजद्वार पर पहुँचा और भीतर प्रविष्ट कराया जाने पर राजा को देख 'स्वस्ति'-वचन-पूर्वक बोला—

हे धारा के स्वामी, धरती के महान् राजाओं की गणना करने के इच्छुक ब्रह्मा ने आपकी गणना करते समय आकाश में जो खरिया से लकीर खींची, वही यह आकाश गंगा है, और आपके समान पृथ्वी पालक न पाकर जो पृथ्वी पर उसे फेंक दिया, वही यह हिमाचल है।

अपूर्व श्लोक राजा सोचने लगा कि इसे क्या दूँ।

तस्मिन्क्षणे तदीयकवित्वमप्रतिद्वन्द्वमाकर्ण्य सोमनाथाख्यकवेर्मुखं विच्छायमभवत्। ततः स दौष्ट्याद्राजानं प्राह—'देव, असौ सुकवि-

भवति। परमनेन न कदापि वीक्षितास्ति राजसभा। यतो दारिद्र्य-वारिधिरयम्। अस्य च जीर्णमपि कौपीनं नास्ति।' ततो राजा सोम-नाथं प्राह—

'निरवद्यानि पद्यानि यद्यनाथस्य का क्षतिः।
भिक्षुणा कक्षनिक्षिप्तः किमिक्षुर्नीरसो भवेत्' ॥ २०३ ॥

ततः सर्वेभ्यस्ताम्बूलं दत्त्वा राजा सभाया उदतिष्ठत्।

उस क्षण जिससे प्रतिद्वन्द्विता न हो सके, ऐसी उसकी कविता सुनकर सोमनाथ नाम के कवि का मुँह उतर गया। और वह दुष्टतापूर्वक राजा से बोला—'महाराज, यह कवि तो अच्छा है, पर इसने कभी राज सभा नहीं देखी है, क्योंकि यह दरिद्रता का समुद्र है। इसके पास तो फटा-पुराना कौपीन तक नहीं है।' तब राजा ने सोमनाथ से कहा—

यदि किसी निःसहाय का काव्य श्रेष्ठ है, तो इसमें हानि क्या है? भिखारी की काँख में रखा गन्ना कहीं नीरस होता है?

फिर सब को पान देकर राजा सभा से उठ गया।

ततः सर्वैरप्यन्योन्यमित्यभ्यधायि—'अद्य विष्णुकवेः कवित्वमाकर्ण्य सोमनाथेन सम्यग्दौष्ट्यमकारि।' ततः समुत्थिता विद्वत्परिषत्। ततो विष्णुकविरेकं पद्यं पत्रे लिखित्वा सोमनाथकविहस्ते दत्त्वा प्रणम्य गन्तु-मारभत। 'अत्र सभायां त्वमेव चिरं नन्द।'

तब सब परस्पर कहने लगे—'आज विष्णु कवि की कविता सुनकर सोमनाथ ने बड़ी दुष्टता की।' इसके बाद विद्वत्-सभा उठायी। तब विष्णु कवि ने एक पद्य पत्र पर लिख कर सोमनाथ कवि के हाथ में दिया और प्रणाम करके जाने लगा—'यहाँ सभा में तुम्हीं चिरकाल तक सानंद रहो।'

ततो वाचयति सोमनाथकविः—

'एतेषु हा तरुणमारुतधूयमान-
दावानलैः कवलितेषु महीरुहेषु।
अम्भो न चेज्जलद मुञ्चसि मा विमुञ्च
वज्रं पुनः क्षिपसि निर्दय कस्य हेतोः' ॥ २०४ ॥

ततः सोमनाथकविर्निखिलमपि पट्टदुकूलवित्तहिरण्यमयीं तुरङ्गमादि-संपत्तिं कलत्रवस्त्रावशेषं दत्तवान्।

तब सोमनाथ कवि ने उसे बांचा—

प्रबल वायु के द्वारा भड़कायी जाती दावाग्नि के ग्रास बन गये इन वृक्षों पर हे जलद, यदि तुम पानी नहीं बरसाते तो न बरसाओ, किंतु हे निर्दय, इन पर वज्र किस लिए गिराते हो ?

तो सोमनाथ कवि ने पत्नी और देह वस्त्र मात्र शेष रख कर, रेशमी वस्त्र, धन, स्वर्ण और अश्व आदि संपूर्ण संपत्ति विष्णु कवि को दे डाली।

ततो राजा मृगयारसप्रवृत्तो गच्छंस्तं विष्णुकविमालोक्य व्यचिन्तयत्–मयास्मै भोजनमपि न प्रदत्तम्। मामनादृत्यायं सम्पत्तिपूर्णः स्वदेशं प्रति यास्यति। पृच्छामि। विष्णुकवे, कुतः सम्पत्तिः प्राप्ता।' कविराह—

सोमनाथेन राजेन्द्र देव त्वद्गृहभिक्षुणा।
अद्य शोच्यतमे पूर्णं मयि कल्पद्रुमायितम्'। २०५॥

तदनंतर आखेट के निमित्त जाते राजा ने उस विष्णु कवि को देख कर विचार किया—'मैंने तो इसे भोजन भी नहीं दिया। मेरा अनादर करके संपत्ति से भरा पूरा हो यह अपने देश चला जायेगा पूछता हूँ। हे विष्णु कवि, संपत्ति कहाँ से पा ली ?' कवि बोला—

हे राजेश्वर, महाराज, आपके घर के भिक्षुक सोमनाथ ने आज मुझ दीन तम व्यक्ति पर पूर्णतः कल्पवृक्ष की भाँति कृपा की।

राजा पूर्वं सभायां श्रुतस्य श्लोकस्याक्षरलक्षं ददौ। सोमनाथेन च यावद्दत्तं तावदपि सोमनाथाय दत्तवान्। सोमनाथः प्राह—

'किसलयानि कुतः कुसुमानि वा
क्व च फलानि तथा वनवीरुधाम्।
अयमकारणकारुणिको यदा
न तरतीह पयांसि पयोधरः ॥२०६॥

राजा ने पहिले सभा में सुने श्लोक पर प्रत्यक्षर लक्ष मुद्राएँ दीं और सोमनाथ ने जितना दिया था, उतना सोमनाथ को भी दिया। सोमनाथ बोला—

वन के वृक्षों ने कहाँ से तो पत्ते आते और कहाँ से फूल और फल, यदि बिना कारण के करुण करने वाला यह जल धर इन्हें जल से तर न कर देता ?

ततो विष्णुकविः सोमनाथदत्तेन राज्ञा दत्तेन च तुष्टवान्। तदा सीमन्तकविः प्राह—

'वहति भुवनश्रेणीं शेषः फणाफलकस्थितां
कमठपतिना मध्ये पृष्ठं सदा स च धार्यते।
तमपि कुरुते क्रोडाधीनं पयोनिधिरादरा-
दहह महतां निःसीमानश्चरित्रविभूतयः' ॥ २०७ ॥

विष्णु कवि सोमनाथ और राजा द्वारा दिये हुए से संतुष्ट हुआ तो सीमंत कवि ने कहा—

शेषनाग अपने फन के ऊपर रख कर, भुवन धारिणी धरणी का भार धारण करता है, कच्छपराज अपनी पीठ पर शेषनाग को धारता है, उसको जलनिधि सादर अपने गोद में रख लेता है। अहाहा, महज्जनों के चरित्र का ऐश्वर्य असीम होता है।

—:o:—

(१५) समाप्तेऽपि कोशे राज्ञा दानम्

कदाचित्सौधतले राजानमेत्य भृत्यः प्राह—'देव, अखिलेष्वपि कोशेषु यद्वित्तजातमस्ति तत्सर्वं देवेन कविभ्यो दत्तम्। परन्तु कोशगृहे धनलेशोपि नास्ति। कोऽपि कविः प्रत्यहं द्वारि तिष्ठति। इतः परं कविर्विद्वान् वा कोऽपि राज्ञे न प्राप्य इति मुख्यामात्येन देवसन्निधौ विज्ञापनीयमित्युक्तम्।'

एक बार प्रासाद के नीचे राजा के पास आकर सेवक ने कहा—'महाराज, संपूर्ण कोशों में जो भी धन था, वह सब कवियों को दे दिया गया, कोशागार में अब धन का लेश भी नहीं है। प्रति दिन कोई न कोई कवि द्वार पर आ जाता है। अब से आगे कोई कवि या विद्वान् महाराज से न मिल पाये—मुख्य मंत्री जी ने आप से यह निवेदन करने को कहा है।'

राजा कोशस्थं सर्वं दत्तमिति जानन्नपि प्राह—'अद्य द्वारस्थं कविं प्रवेशय।' ततो विद्वानागत्य 'स्वस्ति' इति वदन् प्राह—

'नभसि निरवलम्बे सीदता दीर्घकालं
त्वदभिमुखविसृष्टोत्तानचञ्चूपुटेन।

जलधरजलधारा दूरतस्तावदास्तां
ध्वनिरपि मधुरस्ते न श्रुतश्चातकेन' ॥

राजा तदाकर्ण्य 'धिग्जीवितं यद्विद्वांसः कवयश्च द्वारमागत्य सीदन्ति' इति तस्मै विप्राय सर्वाण्याभरणान्युत्तार्य ददौ।

कोश में जो था, वह सब दे दिया गया—यह जानता हुआ भी राजा बोला—'आज द्वार पर आये कवि को प्रविष्ट करा दो तब विद्वान ने आकर 'स्वस्ति' यह उच्चारण करते हुए कहा —

हे जलधर, निराधार आकाश में बहुत समय तक कष्ट उठाते, तुम्हारी ओर ऊपर को चोंच उठाये चातक ने तुम्हारी मधुर ध्वनि भी नहीं सुनी, जलधारा तो दूर रही।

यह सुनकर राजा ने सोचा कि उस जीवन को धिक्कार है कि द्वार पर आकर विद्वान् और कवि कष्ट भोगते हैं—और सब आभूषण उतार कर उस ब्राह्मण को दे दिये।

ततो राजा कोशधिकारिणमाहूयाह—'भाण्डारिक, मुञ्जराजस्य तथा मे पूर्वेषां च ये कोशाः सन्ति तेषां मध्ये रत्नपूर्णाः कलशाः कुत्र।' ततः काश्मीरदेशान्मुचुकुन्दकविरागत्य 'स्वस्ति' इत्युक्त्वा प्राह—

'त्वद्यशोजलधौ भोज निमज्जनभयादिव।
सूर्येन्दुबिम्बमिषतो धत्ते कुम्भद्वयं नभः' ॥ २०९ ॥

राजा तस्मै प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ।

इस के पश्चात् राजाने कोशाधिकारी को बुला कर कहा—'भंडारीजी मुंजराज के और मेरे पूर्व पुरुषों के जो कोश हैं, उनके बीच रत्नों से भरे कलश थे, वे कहाँ हैं? तभी कश्मीर देश से मुचुकुंद कवि आकर और 'स्वस्ति' कह कर बोला—

हे भोज, तुम्हारी यशरूपी समुद्र में डूब जाने के डर से आकाश मानो सूर्य और चंद्र के बिंब के व्याज से दो घड़े धारे हुए हैं।

राजा ने उसे प्रत्येक अक्षर पर लक्ष मुद्राएँ दीं।

पुनः कविराह—

'आसन्क्षीणानि यावन्ति चातकाश्रूणि तेऽम्बुद।
तावन्तोऽपि त्वयोदार न मुक्ता जलबिन्दवः' ॥ २१० ॥

ततः स राजा तस्मै शततुरगानपि ददौ । ततो भाण्डारिको लिखति—

'मुचुकुन्दाय कवये जात्यानश्वाञ्शतं ददौ ।
भोजः प्रदत्तलक्षोऽपि तेनासौ याचितः पुनः' ॥ २११ ॥

कवि ने फिर कहा—

हे जलधर, चातक ने तेरे लिए जितने आँसू गिराये, हे उदार, तूने उतने भी जलबिंदु नहीं गिराये ।

तो राजाने उसे सौ घोड़े भी दे दिये । तब भंडारी ने लिखा—

भोज ने यद्यपि लाख मुद्राएँ दीं, तथापि उसने पुनः याचना की तो मुचुकुंद कवि को राजाने सौ अच्छी जाति के घोड़े दिये ।

ततो राजा सर्वानपि वेश्म प्रेषयित्वान्तर्गच्छति । ततो राज्ञश्चामरग्राहिणी प्राह—

'राजन्मुञ्जकुलप्रदीप सकलक्ष्मापालचूडामणे
युक्तं सञ्चरणं तवाद्भुतमणिच्छत्रेण रात्रावपि ।
मा भूत्त्वद्वदनावलोकनवशाद्व्रीडाभिनम्रः शशी
मा भूच्चेयमरुन्धती भगवती दुःशीलताभाजनम्' ॥ २१२ ॥

राज तस्यै प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ ।

तदनंतर राजा सब को घर भेजकर महल में जाने लगा तो राजा की चँवर डुलाने वाली ने कहा—

हे मुंज के कुलदीपक, समस्त नृपालों की चूडास्थित मणि समान श्रेष्ठ भोजराज, रात में भी इस प्रकार अद्भुत मणिच्छत्र लगाकर आपका चलना युक्ति पूर्ण ही है क्योंकि आपके मुख को देख लेने के कारण कहीं चंद्रमा लज्जा से अवनत न हो जाय और भगवती अरुंधती (नक्षत्र-रूप में स्थित) दुःशीलता की पात्र न हो जायें ।

राजा ने उसे प्रत्यक्षर लक्ष मुद्राएँ दे दीं ।

अन्यदा कुण्डिननगराद्गोपालो नाम कविरागत्य स्वस्तिपूर्वकं प्राह—

'त्वच्चित्ते भोज निर्यातं द्वयं तृणकणायते ।
क्रोधे विरोधिनां सैन्यं प्रसादे कनकोच्चयः' ॥ २१३ ॥

राजा श्रुत्वापि तुष्टो न दास्यति । राजपुरुषैः सह चर्चां कुर्वाण-स्तिष्ठति । ततः कविर्व्यचिन्तयत्--'किमु राजा नाश्रावि' ।

दूसरे दिन कुंडिन नगर से गोपाल नामक कवि आया और 'स्वस्ति' कहकर बोला—

हे भोज, आपके चित्त में आकर दो वस्तुएँ तृण और कण के समान हो जाती हैं--क्रोध आने पर विरोधियों की सेना (तृण तुल्य) और प्रसन्न होने पर सुवर्ण का ढेर (कण के समान) ।

यह सुनकर संतुष्ट हो कर भी राजा ने कुछ दिया नहीं, राजपुरुषों के साथ चर्चा करता रहा । तो कवि सोचने लगा—क्या राजा ने नहीं सुना ?'

ततः क्षणेन समुन्नतमेवावलोक्य राजानं कविराह—

'हे पाथोद यथोन्नतं हि भवता दिग्व्यावृता सर्वतो
मन्ये धीर तथा करिष्यसि खलु क्षीराब्धितुल्यं सरः ।
किन्त्वेष क्षमते नहि क्षणमपि ग्रीष्मोष्मणा व्याकुलः
पाठीनादिगणास्त्वदेकशरणास्तद्वर्ष तावत्कियत् ॥ २१४ ॥

राजा कविहृदयं विज्ञाय 'गोपालकवे' दारिद्र्याग्निना नितान्तं दग्धोऽसि ।'

इति वदन् षोडशमणीननर्घ्यान् षोडतदन्तीन्द्रांश्च ददौ ।

तदनंतर क्षण में राजा के ऊपर मुँह उठाते ही देख कर कवि बोला—

हे जलद, आपने जैसे उमड़ कर दिशा को सब ओर से ढक लिया है उससे मैं समझता हूँ कि हे धीर आप सरोवर को क्षीरसमुद्र की भाँति बना देंगे, परंतु ग्रीष्म ऋतु की गरमी से व्याकुल ये मछलियाँ आदि प्राणी क्षण भर का विलंब भी नहीं सह पा रहे हैं, आप ही इनकी एक शरणस्थली हैं; तो कुछ बरसिए ।

राजा ने कवि के हृदय का मर्म समझा और यह कहते हुए कि गोपाल कवि, तुम दरिद्रता की आग से पूर्ण तया दग्ध हो गये हो—,

सोलह अमोल मणियाँ और सोलह गजराज उसे दिये ।

---:o:---

(१६) प्रभूतदानस्य कतिपयकथाः

एकदा राजा धारानगरे विचरन्कुत्रचिच्छिवालये प्रसुप्तं पुरुषद्वयमपश्यत्। तयोरेको विगतनिद्रो वक्ति—'अहो, ममास्तरासन्न एव कस्त्वं प्रसुप्तोऽसि जागर्षि नो वा।'

एक बार धारानगर में विचरण करते हुए राजा ने किसी शिवालय में सोते दो पुरुषों को देखा। उनमें जागकर एक ने कहा—'मेरे बिछौने के निकट स्थित तुम कौन हो, सोते हो या जागते हो?'

ततस्त्वपर आह—'विप्र, प्रणतोऽस्मि। अहमपि ब्राह्मणपुत्रस्त्वामत्र प्रथमरात्रौ शयानं वीक्ष्य प्रदीप्ते च प्रदीपे कमण्डलूपवीतादिभिर्ब्राह्मणं ज्ञात्वा भवदास्तरासन्न इवाहं प्रसुप्तः। इदानीं त्वद्गिरमाकर्ण्य प्रबुद्धोऽस्मि।'

तो दूसरा बोला—'हे ब्राह्मण, प्रणाम करता हूँ। मैं भी ब्राह्मण का बेटा हूँ; आपको यहाँ पहिली रात में ही सोया देखा और जलते दीपक में कमंडलु और यज्ञोपवीत आदि देख आपको ब्राह्मण समझ कर आपके विस्तर के ही निकट मैं भी सो गया। इस समय आपकी वाणी सुनकर जागा हूँ।'

प्रथमः प्राह—'वत्स, यदि त्वं प्रणतोऽसि ततो दीर्घायुर्भव। वद कुत आगम्यते, किं ते नाम, अत्र च किं कार्यम्।'

पहिला बोला—'वत्स, तुम प्रणाम करते हो तो दीर्घायु होओ। कहो, कहाँ से आते हो, तुम्हारा क्या नाम है और यहाँ क्या काम है?'

द्वितीयः प्राह—विप्र, भास्कर इति मे नाम। पश्चिमसमुद्रतीरे प्रभास-तीर्थसमीपे वसतिर्मम। तत्र भोजस्य वितरणं बहुभिर्व्यावर्णितम्। ततो याचितुमहमागतः। त्वं मम वृद्धत्वात्पितृकल्पोऽसि। त्वमपि सुपरिचयं वद।'

दूसरे ने कहा—'ब्राह्मण, मेरा नाम भास्कर है। पश्चिमी समुद्र के किनारे प्रभास तीर्थ के निकट मेरा निवासस्थान है। वहाँ भोज के दान करने के संबंध में अनेक लोगों ने वर्णन किया। सो मैं याचना करने आया हूँ। आप वृद्ध होने के कारण पिता समान हैं। आप भी अपना परिचय दीजिए।'

स आह—'वत्स, शाकल्य इति मे नाम। मयैकशिलानगर्या आगम्यते भोजं प्रति द्रविणाशया। वत्स, त्वयानुक्तमपि दुःखं त्वयि ज्ञायते कीदृशं तद्वद।'

उसने कहा—'बच्चे, मेरा नाम शाकल्य है। मैं एक-शिला नगरी से द्रव्य की आशा से भोज के पास आया हूँ। बेटे, तुमने कहा नहीं हैं, फिर भी तुम दुःखी हो, यह ज्ञात हो रहा है; वह दुःख कैसा है? कहो।'

ततो भास्करः प्राह—'तात, किं ब्रवीमि दुःखम्।

क्षुत्क्षामाः शिशवः शवा इव भृशं मन्दाशया बान्धवा
लिप्ता झर्झरघर्घरी जतुलवैर्नो मां तथा बाधते।
गेहिन्या त्रुटितांशुकं घटयितुं कृत्वा सकाकुस्मितं
कुप्यन्ती प्रतिवेश्म लोकगृहिणी सूचिं यथा याचिता' ॥२१५॥

राजा श्रुत्वा सर्वाभरणान्युत्तार्य तस्मै दत्त्वा प्राह—'भास्कर, सीदन्त्यतीव ते बालाः। झटिति देशं याहि।'

तो भास्कर बोला—'तात, क्या कहूँ अपना दुःख—

भूख से क्षीण बच्चे शव के समान हो गये हैं, भाई-बंधु पर्याप्त निम्न विचार के हैं। लाख के टुकड़े से जोड़ी हुई फूटी गागर मुझे उतना कष्ट नहीं देती, जितना कि फटा कपड़ा सिलने के लिए मेरी घरनी के द्वारा सूई माँगे जाने पर बनावटी रूप से मुस्कुरा कर घर-घर में क्रुद्ध होती लोगों की घरनियाँ।

यह सुनकर सब आभूषण उतार उसे देकर राजा ने कहा—'भास्कर, तुम्हारे बच्चे बड़ा कष्ट पा रहे हैं। झट अपने देश को चले जाओ।'

ततः शाकल्यः प्राह—

अत्युद्धृता वसुमती दलितोऽरिवर्गः
क्रोडीकृता बलवता बलिराजलक्ष्मीः।
एकत्र जन्मनि कृतं यदनेन यूना
जन्मत्रये तदकरोत्पुरुषः पुराणः' ॥ २१६ ॥

ततो राजा शाकल्याय लक्षत्रयं दत्तवान्।

तब शाकल्य ने कहा—

वसुमती धरती का उद्धार किया, शत्रुओं को दल डाला और वली राजाओं की लक्ष्मी को अपनी गोद में ला धरा,—सो इस वलवान् युक्त (भोजराज) ने एक ही जन्म में वह सब कर डाला, जो पुराण पुरुष विष्णु ने तीन जन्म में किया। (वाराहावतार में धरती का उद्धार, रामादि अवतार में शत्रु-नाश और वामनावतार में वलिराज का राज्य हरण)।

तो राजा ने शाकल्य को तीन लाख मुद्राएँ दीं।

अन्यदा राजा मृगयारसेन विचरंस्तत्र पुरः समागतहरिण्यां बाणेन विद्धायामपि वित्ताशया कोऽपि कविराह—

'श्रीभोजे मृगयां गतेऽपि सहसा चापे समारोपिते-
ऽप्याकर्णान्तगतेऽपि मुष्टिगलिते बाणेऽङ्गलग्नेऽपि च।
स्थानान्नैव पलायितं न चलितं नोत्कम्पितं नोत्प्लुतं
मृग्या मद्वशगं करोति दयितं कामोऽयमित्याशया' ॥ २१७ ॥

राजा तस्मै लक्षत्रयं प्रयच्छति।

एक और वार आखेट के लिए विचरण करते राजा ने संमुख आ पड़ी हिरनी को वाण से वींध दिया, तो वहाँ धन की आशा से एक कवि ने कहा-

आखेट को गये श्रीभोजराज ने झट से धनुष पर वाण चढ़ाया, कान तक खींचा और मुट्ठी से निकल कर वह वाण अंग में जा लगा, किंतु इतना सब होते भी हिरनी न तो स्थान छोड़ कर भागी, न चली, न काँपी, न कूदी-वह यही आशा करती रही कि यह कामदेव मेरे स्वामी को मेरे वश में कर रहा है।

राजा ने उसे तीन लाख दिये।

अन्यदा सिंहासनमलङ्कुर्वाणे श्रीभोजनृपतौ द्वारपाल आगत्याह-'देव, जाह्नवीतीरवासिनी काचन वृद्धब्राह्मणी विदुषी द्वारि तिष्ठति'। राजा—'प्रवेशय।' आगच्छन्तीं राजा प्रणमति। सा तं 'चिरं जीव' इत्युक्त्वाह—

'भोजप्रतापाग्निरपूर्व एष जागर्ति भूभृत्कटकस्थलीषु।
यस्मिन्प्रविष्टे रिपुपार्थिवानां तृणानि रोहन्ति गृहाङ्गणेषु' ॥ २१८ ॥

राजा तस्यै रत्नपूर्णं कलशं प्रयच्छति । ततो लिखति भाण्डारिकः—

'भोजेन कलशो दत्तः सुवर्णमणिसम्भृतः ।
प्रतापस्तुतितुष्टेन वृद्धायै राजसंसदि' ॥ २१९ ॥

दूसरी बार श्री भोजराज के सिंहासन को सुशोभित करते समय द्वारपाल ने आकर कहा—'देव, जाह्नवी गंगा के तट पर रहने वाली एक विदुषी बूढ़ी, ब्राह्मणी द्वार पर है ।' राजा ने कहा—'प्रविष्ट करो ।' उसे आती देख राजा ने प्रणाम किया और वह 'बहुत दिन जीते रहो', यह कहकर बोली—

राजाओं के सैन्यस्थलों में एक अनोखी भोज के प्रताप की अग्नि जल रही है, जिसमें प्रविष्ट होने पर शत्रु राजाओं के घर के आंगनों में तृण उग आते हैं ।

राजा ने उसे रत्नों से भरा कलसा दिया । तो भंडारी ने लिखा—

राज संसद में अपने प्रताप की प्रशंसा करने पर संतुष्ट हुए भोज ने वृद्धा को स्वर्ण और मणि से पूर्ण कलश दिया ।

अन्यदा दूरदेशादागतः कश्चिच्चोरो राजानं प्राह—'देव, सिंहलदेशे मया काचन चामुण्डालये राजकन्या दृष्टा, मालवदेशदेवस्य महिमानं बहुधा श्रुतं त्वमपि वदेति पप्रच्छ । मया च तस्या देवगुणा व्यावर्णिताः । सा चात्यन्ततोषाच्चन्दनतरोर्निरुपमं गर्भखण्डं दत्त्वा यथास्थानं प्रपेदे । देवगुणाभिवर्णनप्राप्तं तदेतद्गृहाण । एतत्प्रसृतपरिमलभरेण भृङ्गा भुजङ्गाश्च समायान्ति ।' राजा तद्गृहीत्वा तुष्टस्तस्मै लक्षं दत्तवान् ।

एक बार दूर देश से आया कोई चोर राजा से बोला—'महाराज, मैंने सिंहल देश में भगवती चामुंडा के मन्दिर में एक राज-कन्या देखी । उसने मुझसे कहा कि मैंने मालव देश के राजा की बहुत महिमा सुनी है, तू भी बता । मैंने उसके संमुख महाराज के गुणों का वर्णन किया । वह अत्यन्त संतुष्ट हो चन्दन वृक्ष के मध्य भाग का एक अनुपम खंड मुझे देकर यथास्थान चली गयी । महाराज के गुणों का वर्णन करने से प्राप्त यह चंदन खंड महाराज स्वीकारे । इसकी सुगंध के प्रसार से भौंरे और सर्प आ जाते है ।' राजा उसे लेकर संतुष्ट हो चोर को लाख मुद्राएं दी ।

ततो दामोदरकविस्तन्मिषेण राजानं स्तौति—

'श्रीमच्चन्दनवृक्ष सन्ति बहवस्ते शाखिनः कानने
येषां सौरभमात्रकं निवसति प्रायेण पुष्पश्रिया।
प्रत्यङ्गं सुकृतेन तेन शुचिना ख्याताः प्रसिद्धात्मना
योऽसौ गन्धगुणस्त्वया प्रकटितः क्वासाविह प्रेक्ष्यते'।

राजा स्वस्तुतिं बुद्ध्वा लक्षं ददौ।

तब दामोदर कवि ने चंदन खंड के व्याज से राजा की स्तुति की—

हे शोभावान् चंदन वृक्ष, जंगल में ऐसे बहुत से वृक्ष हैं, जिनकी कुसुमश्री में ही सुगंध रहा करती है, परन्तु यह जो स्वयं प्रसिद्ध पवित्र पुण्यकृत्य के कारण विख्यात सुगंध रूपी गुण अपने प्रत्येक अङ्ग से तुमने प्रकट किया है, वह अन्य वृक्षों में कहाँ दीखता है?

राजा ने अपनी प्रशंसा को समझ कर (दामोदर कवि को) लाख मुद्राएँ दीं।

ततो द्वारपाल आगत्य प्राह—'देव, काचित्सूत्रधारी स्त्री द्वारि वर्तते।' राजा—'प्रवेशय।' ततः सागत्य राजानं प्रणिपत्याह—

'बलिः पातालनिलयोऽधः कृतश्चित्रमत्र किम्।
अधः कृतो दिविस्थोऽपि चित्रं कल्पद्रुमस्त्वया' ॥ २२१ ॥

राजा तस्यै प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ।

तदनंतर द्वारपाल आकर बोला—'महाराज, कोई सूतवाली स्त्री द्वार पर विद्यमान है। राजा ने प्रविष्ट कराने की आज्ञा दी। तब वह आकर राजा को प्रणाम करके बोली—

महाराज, आपने (दान वर के दानी) पाताल वासी बलि को नीचे कर दिया, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं (वह तो स्वयं नीचे बसे लोक पाताल का निवासी है ही); आश्चर्य की बात यह है कि अपने तो ऊपर के लोक स्वर्ग में स्थित कल्पवृक्ष को भी नीचा कर दिया।

राजा ने उसे प्रत्येक अक्षर पर लक्ष मुद्राएँ दीं।

ततः कदाचिन्मृगयापरिश्रान्तो राजा क्वचित्सहकारतरोरधस्तात्तिष्ठति स्म। तत्र मल्लिनाथाख्यः कविरागत्य प्राह—

'शाखाशतशतविततास्सन्ति कियन्तो न कानने तरवः।
परिमलभरमिलदलिकुलदलितदलाः शाखिनो विरलाः' ॥ २२२ ॥

ततो राजा तस्मै हस्तवलयं ददौ।

फिर कभी आखेट करने से थका राजा कहीं आम्र वृक्ष के नीचे बैठा था। वहाँ मल्लिनाथ नामक कवि आकर बोला—

जंगल में शत-शत शाखाओं में फैले न जाने कितने वृक्ष हैं, परन्तु सुगंध भार से आकृष्ट भ्रमरों के समूह द्वारा जिसके पत्ते छलनी कर दिये गये हैं, ऐसे वृक्ष विरल हैं।

राजा ने उसे हाथ का कंगन दे दिया।

तत्रैवासीने राज्ञि कोऽपि विद्वानागत्य 'स्वस्ति' इत्युक्त्वा प्राह—'राजन्, काशीदेशमारभ्य तीर्थयात्रया परिभ्राम्यते दक्षिणदेशवासिना मया।' राजा—'भवादृशानां तीर्थवासिनां दर्शनात्कृतार्थोऽस्मि।' स आह—'वयं मान्त्रिकाश्च।' राजा—'विप्रेषु सर्वं सम्भाव्यते।' राजा पुनः प्राह—'विप्र, मन्त्रविद्यया यथा परलोके फलप्राप्तिः तथा किमिहलोकेऽप्यस्ति।'

राजा वहीं बैठे थे कि कोई विद्वान् आ गया और 'स्वस्ति' कह कर बोला—'राजन् मैं दक्षिण देश का निवासी हूँ, काशी देश से तीर्थयात्रा आरम्भ करके परिभ्रमण कर रहा हूँ।' राजा ने कहा—'आप जैसे तीर्थ-वासियों के दर्शन से कृतार्थ हूँ।' वह बोला—'हम मंत्रविद्या-ज्ञानी भी हैं।' राजा—'ब्राह्मणों में सबकी संभावना है।' और फिर राजा ने कहा—'विप्र, मंत्रविद्या से जैसे परलोक में फल मिलता है, वैसे क्या इस लोक में भी मिलता है?'

विप्रः—'राजन्, सरस्वतीचरणाराधनाद्विद्यावाप्तिर्विश्वविदिता। परं धनावाप्तिर्भाग्याधीना।

गुणाः खलु गुणा एव न गुणा भूतिहेतवः।
धनसञ्चयकर्तॄणि भाग्यानि पृथगेव हि॥ २२३॥

देव, विद्यागुणा एव लोकानां प्रतिष्ठायै भवन्ति। न तु केवलं सम्पदः। देव,

आत्मायत्ते गुणग्रामे नैर्गुण्यं वचनीयता।
दैवायत्तेषु वित्तेषु पुंसां का नाम वाच्यता॥ २२४॥

देव, मन्त्राराधनेनाप्रतिहता शक्तिः स्यात्। देव, एवं कुतूहलं यस्य। मया यस्य शिरसि करो निधीयते; स सरस्वतीप्रसादेनास्खलितविद्याप्रसारः स्यात्।' राजा प्राह—'सुमते, महती देवताशक्तिः।'

विप्र बोला—'राजन्, सरस्वती के चरणों की आराधना से विद्या की प्राप्ति होती है, यह संसार-प्रसिद्ध है, परन्तु धन की प्राप्ति भाग्य के अधीन है।

गुण गुण ही होते हैं, गुण संपत्ति के कारण नहीं होते, जो धन-संचय कराते हैं, वे भाग्य भिन्न ही होते हैं।

महाराज, विद्या गुण ही लोगों की प्रतिष्ठा के निमित्त होते हैं, केवल संपदा नहीं। महाराज, गुण समूह (मनुष्य के) अपने अधीन होता है, सो निर्गुण रह जाना निंदा योग्य है, परन्तु धन तो दैवाधीन है, उसमें पुरुषों का क्या दोष ?

महाराज, मंत्राराधन से अशेष शक्ति प्राप्त होती है। देव, उसका यह चमत्कार है कि मैं जिसके सिर पर हाथ रख दूँ, सरस्वती के प्रसाद से उसकी विद्या का प्रसार निर्बाध हो जायेगा।' राजा ने कहा—'हे बुद्धिशाली, देवता की शक्ति बड़ी होती है।'

ततो राजा कामपि दासीमाकार्य विप्रं प्राह—'द्विजवर, अस्य वेश्यायाः शिरसि करं निधेहि।' विप्रस्तस्याः शिरसि करं निधाय त प्राह—'देवि, यद्राजाज्ञापयति तद्वद। ततो दासी प्राह 'देव, अहमद्य समस्तवाङ्मयजातं हस्तामलकवत्पश्यामि। देव, आदिश किं वर्णयामि।

तत्पश्चात् किसी दासी को बुलाकर ब्राह्मण से कहा—'ब्राह्मण-श्रेष्ठ, इ वेश्या के सिर पर हाथ धरो।' ब्राह्मण ने उसके सिर पर हाथ धर क कहा—'देवि, राजा जिसकी आज्ञा दें, उसका वर्णन करो।' तो दासी बोली—'महाराज, आज मैं संपूर्ण वाङ्मय को हथेली पर रखे आँवले तुल्य देख रही हूँ। आज्ञा दें महाराज, किसका वर्णन करूँ ?'

ततो राजा पुरः खड्गं वीक्ष्य प्राह—'खड्गं मे व्यावर्णय' इति दासी प्राह—

'धाराधरस्त्वदसिरेष नरेन्द्र चित्रं
वर्षन्ति वैरिवनिताजनलोचनानि

कोशेन सन्ततमसङ्गतिराहवेऽस्य
दारिद्र्यमभ्युदयति प्रतिपार्थिवानाम्' ॥ २२५ ॥

राजा तस्यै रत्नकलशाननर्घ्यान्पञ्च ददौ ।

तो राजा ने संमुख रखी तलवार को देखकर कहा—'मेरे कृपाण का वर्णन कर ।' दासी ने कहा—

'हे नरराज, आपका यह कृपाण एक विचित्र बादल है जो कि शत्रु-स्त्रियों के नेत्रों से जल बरसाता है (यह घिर कर स्वयं नहीं बरसता) और युद्ध में इसकी कोश से असंगति (मियान से बाहर रहना) निरन्तर शत्रु राजाओं की दरिद्रता की उन्नति करती है ।

राजा ने उसे पाँच अमोल रत्नकलश दिये ।

ततस्तस्मिन्क्षणे कुतश्चित्पञ्च कवयः समाजग्मुः । तानवलोक्येषद्विच्छायमुखं राजानं दृष्ट्वा महेश्वरकविर्वृक्षमिषेणाह—

'किं जातोऽसि चतुष्पथे घनतरच्छायोऽसि किं छायया
छन्नश्चेत्फलितोऽसि किं फलभरैः पूर्णोऽसि किं संनतः ।
हे सद्वृक्ष सहस्व सम्प्रति चिरं शाखाशिखाकर्षण-
क्षोभामोटनभञ्जनानि जनतः स्वैरेव दुश्चेष्टितैः' ॥ २२६ ॥

ततो राजा तस्मै लक्षं ददौ ।

तब उसी समय कहीं से पाँच कवि आ गये । उन्हे देख कर राजा का मुख कुछ उदास हो गया, ऐसे राजा को देख वृक्ष के व्याज से महेश्वर कवि ने कहा—

तुम उत्पन्न हुए तो चौराहे पर क्यों ? घनी छाया वाले हुए तो छाया से ढककर फले क्यो ? और फलों से परिपूर्ण हुए तो झुके क्यों ? हे भले वृक्ष, अब अपनी ही इन दुश्चेष्टाओं के कारण लोगों से डाली, फुनगियों का खींचा जाना और क्षोभ में भर कर उनका तोड़ा-मरोड़ा जाना चिरकाल तक सहो ।

तो राजाने उसे लाख मुद्राएँ दीं ।

ततस्ते द्विजवराः पृथक्पृथगाशीर्वचनमुदीर्य यथाक्रमं राजाज्ञया कम्बल उपविश्य मङ्गलं चक्रुः । तत एकः पठति—

'कूर्मः पातालगङ्गापयसि विहरतां तत्तटीरूढमुस्ता-
मादत्तामादिपोत्री शिथिलयतु फणामण्डलं कुण्डलीन्द्रः।
दिङ्मातङ्गा मृणालीकवलनं कुर्वतापर्वतेन्द्राः
सर्वे स्वैरं चरन्तु त्वयि वहति विभो भोज देवीं धरित्रीम्' ॥२२७॥

राजा चमत्कृतस्तस्मै शताश्वान्ददौ। ततो भाण्डारिको लिखति—

'क्रीडोद्याने नरेन्द्रेण शतमश्वा मनोजवाः।
प्रदत्ताः कामदेवाय सहकारतरोरधः' ॥ २२८ ॥

तदनंतर वे ब्राह्मण अलग-अलग आशीर्वचन कह कर क्रमानुसार राजा की आज्ञासे कंबल पर बैठ कर मंगल पाठ करने लगे। तब एक ने पढ़ा—

हे प्रभु भोजराज, धरती का बोझ आप के उठा लेने पर (अब) कच्छप पाताल गंगा में विहार करे, उसके किनारे पर उगे मोथे को आदि वाराह ग्रहण करे, शेपनाग फणमंडल को शिथिल कर ले, दिङ्नाग (दिशाओं को धारण करने वाले हाथी) कमल, नालों की जुगाली करें और सब पर्वत स्वच्छंदतापूर्वक विचरण करें। (भोज के पृथ्वी वहन करलेने से सब मुक्त हैं।) चमत्कृत हो राजा ने उसे सौ घोड़े दिये। तो भंडारी ने लिखा—

राजा ने क्रीडा-वाटिका में आम्रवृक्षके नीचे मन के समान वेगवाले सौ घोड़े कामदेव को दिये।

—:०:—

(१७) भोजस्य दर्पभङ्गः

ततः कदाचिद्भोजो विचारयति स्म—'मत्सदृशो वदान्यः कोऽपि नास्ति' इति। तद्गर्वं विदित्वा मुख्यामात्यो विक्रमार्कस्य पुण्यपत्रं भोजाय प्रदर्शयामास। भोजस्तत्र पत्रे किञ्चित्प्रस्तावमपश्यत्। तथाहि—विक्रमार्कः पिपासया प्राह—

स्वच्छं सज्जनचित्तवल्लघुतरं दीनार्तिवच्छीतलं
पुत्रालिङ्गनवत्तथैव मधुरं तद्बाल्यसञ्जल्पवत्।
एलोशीरलवङ्गचन्दनलसत्कर्पूरकस्तूरिका
जातीपाटलिकेतकैः सुरभितं पानीयमानीयताम्' ॥ २२९ ॥

तत्पश्चात् एक बार भोज के मन में आया कि मेरे समान अभिलषित प्रदान करने वाला कोई नहीं है। उसके घमंड को समझ कर मुख्य मन्त्री ने विक्रमादित्य का पुण्यपत्र भोज को दिखाया। भोजने उस पत्र में एक प्रस्ताव देखा। उसमें था—प्यास लगने के कारण विक्रमादित्य ने कहा—

सज्जनों के चित्त के समान स्वच्छ, दीनों के कष्ट के समान हल्का, पुत्र के आलिंगन के समान शीतल, और बच्चे की अटपटी बोली के तुल्य मीठा, इलायची, खस, लौंग, चन्दन से युक्त कपूर, कस्तूरी, चमेली, गुलाब, केतकी से सुवासित पेय लाओ।

ततो मागधः प्राह—

'वक्त्राम्भोजं सरस्वत्यधिवसति सदा शोण एवाधरस्ते
बाहुः काकुत्स्थवीर्यस्मृतिकरणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः।
वाहिन्यः पार्श्वमेताः कथमपि भवतो नैव मुञ्चन्त्यभीक्ष्णं
स्वच्छे चित्ते कुतोऽभूत्कथय नरपते तेऽम्बुपानाभिलाषः' ॥२३०॥

तो मागध ने कहा—

आपके मुख कमल में सरस्वती वाग् देवी के रूप में नदी सरस्वती निवास करती है, आपका शोण अर्थात् लाल अधर शोण नद ही है, आपका दक्षिण बाहु ककुत्स्थ वंशी श्री राम के पराक्रम का स्मरण कराने में दक्ष (राम के बाहु समान बलिष्ठ) दक्षिण समुद्र है और ये वाहिनी—सेनाएँ आपके नैकट्य को वाहिनी नदियों के तुल्य कभी छोड़ती ही नहीं है और आपका चित्त स्वच्छ है, तो हे नरराज आपको जल—पान की इच्छा कहाँ से हो गयी ?

ततो विक्रमार्कः प्राह। तथाहि—

'अष्टौ हाटककोटयस्त्रिनवतिर्मुक्ताफलानां तुलाः
पञ्चाशन्मधुगन्धमत्तमधुपाः क्रोधोद्धताः सिन्धुराः।
अश्वानामयुतं प्रपञ्चचतुरं वाराङ्गनानां शतं
दत्तं पाण्ड्यनृपेण यौतकमिदं वैतालिकायार्प्यताम्' ॥ २३१ ॥

ततो भोजः प्रथमत एवाद्भुतं विक्रमार्कचरित्रं दृष्ट्वा निजगर्वं तत्याज।

तब विक्रमादित्य ने कहा—

आठ स्वर्ण कोटियाँ, तिरानवे तौल मोती, मधु की गंध से मतवाले भ्रमरों के (ऊपर घिर कर भनभनाते) कारण क्रोध से उद्धत पचास हाथी, दस सहस्र घोड़ों, छल-प्रपंच करने में चतुर सौ वारांगनाएँ और पांड्यदेश राजा ने जो यौतुक दिया है, वह सब इस मागध वैतालिक को दे दो।

तो भोज ने पहिले से ही आश्चर्यमय विक्रमादित्य के चरित्र को देख कर अपना अभिमान छोड़ दिया।

—:०:—

(१८) विपुलदानस्य कतिपयकथाः

ततः कदाचिद्धारानगरे रात्रौ विचरन्राजा कंचन देवालये शीतालु ब्राह्मणमित्थं पठन्तमवलोक्य स्थितः—

'शीतेनाध्युषितस्य माघजलवच्चिन्तार्णवे मज्जतः
शान्ताग्नेः स्फुटिताधरस्य धमतः क्षुत्क्षामकुक्षेर्मम।
निद्रा क्वाप्यवमानितेव दयिता सन्त्यज्य दूरं गता
सत्पात्रप्रतिपादितेव कमला नो हीयते शर्वरी' ॥ २३२ ॥

इति श्रुत्वा राजा प्रातस्तमाहूय पप्रच्छ—'विप्र, पूर्वेद्यू रात्रौ त्वय दारुणः शीतभारः कथं सोढः।'

एक वार धारानगर में रात्रि में विचरण करता राजा किसी देवमंदि में शीत से व्याकुल ब्राह्मण को इस प्रकार पढ़ते देख रुक गया—

शीत से आक्रान्त माघमास के जल के समान चिंता के समुद्र में डूबते बुझ चली आग को शीत से फटे ओठों से फूँकते, भूख से सूखे पेटवाले मुझ अपमानित प्रिया की भाँति छोड़ कर नींद चली गयी है; और जैसे सुयोग्य व्यक्ति की संचित लक्ष्मी का क्षय नहीं होता, वैसे ही रात का क्षय नहीं हो रहा है।

यह सुनकर सवेरे राजा ने उसे बुलाकर पूछा—'ब्राह्मण, गत रात्रि मे तुमने कठोर शीत के भार को कैसे सहा ?'

विप्र आह—

'रात्रौ जानुर्दिवा भानुः कृशानुः सन्ध्ययोर्द्वयोः।
एवं शीतं मया नीतं जानुभानुकृशानुभिः' ॥ २३३ ॥

राजा तस्मै सुवर्णकलशत्रयं प्रादात्।

रात में घुटने (घुटनों के बीच सिर रखकर), दिन में सूर्य (धूप) और द्विसंध्याओं (प्रातः सायम्) में आग (तापकर)— इस प्रकार जानु-भानु-कृशानु (घुटना, सूरज और आग) के द्वारा मैंने शीत व्यतीत किया।

राजाने उसे तीन स्वर्णकलश दिये।

ततः कवी राजानं स्तौति—

'धारयित्वा त्वयात्मानं महात्यागधनायुषा।
मोचिता बलिकर्णाद्याः स्वयशोगुप्तकर्मणः' ॥ २३४ ॥

राजा तस्मै लक्षं ददौ।

तब कवि ने राजा की स्तुति की—

जिस का धन और आयु महान् त्याग से पूर्ण है, ऐसे आपने स्वयम् को धारण करके जिनके कीर्तिकार्य गुप्त हो चले थे उन बलि और कर्ण आदि को छुटकारा दिला दिया। (बलि और कर्णादि के कार्यो पर अविश्वास हो चला था, भोज ने स्वदान कृत्यों से उन्हें पुनर्जीवित किया।)

राजा ने उसे लक्ष मुद्राएँ दीं।

एकदा क्रीडोद्यानपाल आगत्यैकमिक्षुदण्डं राज्ञः पुरो मुमोच। तं राजा करे गृहीतवान्। ततो मयूरकविर्नितान्तं परिचयवशादात्मनि राज्ञा कृतामवज्ञां मनसि निधायेक्षुमिषेणाह—

'कान्तोऽसि नित्यमधुरोऽसि रसाकुलोऽसि
किं चासि पञ्चशरकार्मुकमद्वितीयम्।
इक्षो तवास्ति सकलं परमेकमूनं
यत्सेवितो भजसि नीरसतां क्रमेण' ॥ २३५ ॥

राजा कविहृदयं ज्ञात्वा मयूरं सम्मानितवान्।

एक बार क्रीडावाटिका के माली ने आकर एक गन्ना राजा के संमुख उपस्थित किया। राजा ने उसे हाथ में ले लिया। तो मयूर कवि ने अति परिचय के कारण राजा के द्वारा होती अपनी अवज्ञा को मन में रख कर गन्ने के व्याज से कहा—

तुम कमनीय हो, अत्यंत मधुर हो, रस तुझसे टपका जा रहा है, और क्या कहें कि तुम पंचशर काम के अद्वितीय धनुष हो; हे गन्ने, तुम में सब कुछ है, पर एक कमी है कि सेवित होने पर (चूसे जाने पर) धीरे-धीरे नीरसता को प्राप्त हो जाते हो।

राजा ने कवि के हृदय को समझ कर कविमयूर को संमानित किया।

ततः कदाचिद्रात्रौ सौधोपरि क्रीडापरो राजा शशाङ्कमालोक्य प्राह--

'यदेतच्चन्द्रान्तर्जलदलवलीलां वितनुते
तदाचष्टे लोकः शशक इति नो मां प्रति तथा।'

ततश्चाधो भूमौ सौधान्तः प्रविष्टः कश्चिच्चोर आह—

'अहं त्विन्दुं मन्ये त्वदरिविरहाक्रान्ततरुणी-
कटाक्षोल्कापातव्रणकणकलङ्काङ्किततनुम्'॥२३६॥

कभी रात मे महल के ऊपर क्रीडारत राजा ने (चंद्रमा के) शशचिह्न को देखकर कहा--

यह जो चन्द्रमा के मध्य मेघखंड जैसी कुछ प्रतीति है, लोक उसे शशक कहता है किंतु मुझे ऐसा नहीं लगता।

तो नीचे के तलमें महल के भीतर घुसा कोई चोर बोला--

मैं तो समझता हूँ आपके वैरियों की विरह पीडिता तरुणियों के कटाक्षों के कारण जो उल्कापात होता है, उसी से हुए घाव के कलंक का यह चिह्न चन्द्रमा के शरीर में है।

राजा तच्छ्रुत्वा प्राह--'अहो महाभाग, कस्त्वमर्धरात्रे कोशगृहमध्ये तिष्ठसि' इति। स आह--'देव, अभयं नो देहि' इति। राजा--'तथा' इति। ततो राजानं स चोरः प्रणम्य स्ववृत्तान्तमकथयत्। तुष्टो राजा चोराय दश कोटीः सुवर्णस्योन्मत्तान्गजेन्द्रांश्च ददौ।

यह सुनकर राजा बोला--हे महाभाग, कोषागर के मध्य आधीरात में घुसे तुम कौन हो?' वह बोला—महाराज, मुझे अभय दीजिए।' राजा ने कहा--ठीक है।' तब राजा को प्रणाम करके चोर ने अपनी वार्ता कह डाली। संतुष्ट राजा ने चोर को सोने की दस कोटियाँ और मदमाते गजराज दिये।

ततः कोशाधिकारी धर्मपत्रे लिखति—

तदस्मै चोराय प्रतिनिहतमृत्युप्रतिभिये
प्रभुः प्रीतः प्रादादुपरितनपादद्वयकृते ।
सुवर्णानां कोटीर्दश दशनकोटिक्षतगिरी-
न्गजेन्द्रानप्यष्टौ मदमुदितकूजन्मधुलिहः ॥ २३७ ॥

तो कोषाधिकारीने धर्मपत्र में लिखा—

उपर्युक्त दो चरणों की रचना पर प्रसन्न हो स्वामी ने मृत्यु के आतंक से निर्भय कर चोर को सोने की दस कोटियाँ और दाँतों की नोकों से पर्वतों को तोड़ देने वाले और जिनके टपकते मदपर मोद से भरे मधुके चटोरे भौंरे भनभनाते रहते थे ऐसे आठ गजराज दिये ।

ततः कदाचिद्द्वारपाल आगत्य प्राह—'देव- कौपीनावशेषो विद्वान्द्वारि वर्तते' इति । राजा—'प्रवेशय' इति । ततः प्रविष्टः स कविर्भोजमालोक्याद्य मे दारिद्र्यनाशो भविष्यतीति मत्वा तुष्टो हर्षाश्रूणि मुमोच ।

कभी द्वारपाल आकर बोला—'एक कौपीनमात्र धारण किये विद्वान् द्वार पर उपस्थित है । 'राजाने कहा—'प्रविष्ट कराओ ।' तब प्रविष्ट हो वह कवि भोजराज को देख यह मानकर कि आज मेरी दरिद्रता का नाश होगा, प्रसन्नता के आँसू गिराने लगा ।

राजा तमालोक्य प्राह—'कवे, किं रोदिषि' इति । ततः कविराह—'राजन्, आकर्णय मद्गृहस्थितिम् ।

अये लाजाउच्चैः पथि वचनमाकर्ण्य गृहिणी
शिशोः कर्णौ यत्नात्सुपिहितवती दीनवदना ।
मयि क्षीणोपाये यदकृत दृशावश्रुबहुले
तदन्तः शल्यं मे त्वमसि पुनरुद्धर्तुमुचितः ॥ २३८ ॥

राजा 'शिव शिव कृष्ण कृष्ण इत्युदीरयन्प्रत्यक्षरलक्षं दत्त्वा प्राह—'सुकवे त्वरितं गच्छ गेहम् । त्वद्गृहिणी खिन्नाभूत्' इति ।

राजा ने उसे देखकर कहा—'हे कवि, रोते क्यों हो ?' तो कवि बोला—'महाराज, मेरे घर की दशा सुनें—

'खीलें लो खीलें' मार्ग में उच्च स्वर में कहे जाते इन वचनों को सुन कर दीनमुखी हो मेरी घरनी ने बच्चे के कानों को प्रयत्नपूर्वक भली भाँति

पुनरपि पठति कविः—

केचिन्मूलाकुलाशाः कतिचिदपि पुनः स्कन्धसम्बन्धभाज-
श्छायां केचित्प्रपन्नाः प्रपदमपि परे पल्लवानुन्नयन्ति।
अन्ये पुष्पाणि पाणौ दधति तदपरे गन्धमात्रस्य पात्रं
वाग्वल्लयाः किं तु मूढाः फलमहह नहि द्रष्टुमप्युत्सहन्ते ॥२४३॥

कवि ने फिर पढ़ा—

कुछ लोग वृक्ष की जड़ के लिए व्याकुल रहते हैं, कुछ तने को लेना चाहते हैं; कुछ छाया का ही ग्रहण करते हैं, कुछ पत्तों को तोड़ लेते हैं; कुछ अन्य फूलों को हाथों में धारण कर लेते हैं और कुछ गंधमात्र के पात्र बनते हैं; किंतु, हाय, ये मूर्ख वाणी रूपी वल्लरी के फलों को देखने के लिए भी उत्साहित नहीं होते।

एतदाकर्ण्य बाणः प्राह—

परिच्छन्नस्वादोऽमृतगुडमधुक्षौद्रपयसां
कदाचिच्चाभ्यासाद्व्रजति ननु वैरस्यमधिकम्।
प्रियाबिम्बोष्ठे वा रुचिरकविवाक्येऽप्यनवधि-
र्नवानन्दः कोऽपि स्फुरति तु रसोऽसौ निरुपमः ॥२४४॥

ततो राजा लक्षं दत्तवान्।

यह सुनकर बाण ने कहा—

अमृत, गुड़, मधु, छुहारे और दूध का स्वाद एक तो स्पष्ट नहीं है दूसरे बार-बार प्रयोग से कभी-कभी पर्याप्त विरस भी हो जाता है; किंतु प्रिया के बिम्बोष्ठ और रमणीय कवि वचन में एक असीम नवीन आनंद है, उससे तो एक निरुपमेय रस का स्फुरण होता है।

तो राजाने लाख मुद्राएँ दीं।

—:०:—

(१४) कालिदासभवभूत्योः स्पर्धा

ततः कदाचित्सिंहासनमलङ्कुर्वाणे श्रीभोजे द्वारपाल आगत्य प्राह—'देव, वाराणसीदेशादागतः कोऽपि भवभूतिर्नाम कविर्द्वारि तिष्ठति'

इति । राजा प्राह—'प्रवेशय' इति । ततः प्रविष्टः सोऽपि सभामगात् । ततः सभ्याः सर्वे तदागमनेन तुष्टा अभवन् । राजा च भवभूतिं प्रेक्ष्य प्रणमति स्म । स च 'स्वस्ति' इत्युक्त्वा तदाज्ञयोपविष्टः ।

एक बार श्रीभोज के सिंहासन को सुशोभित करने पर द्वारपाल ने आकर कहा—'देव, वाराणसी देश से आया एक भवभूति नामक कवि द्वार पर उपस्थित है।' राजा ने कहा—'प्रविष्ट कराओ।' सो प्रविष्ट होने पर वह भी सभा में पहुँचा। तब सभी सभासद् उसके आने से संतुष्ट हुए। राजा ने भवभूति को देख कर प्रणाम किया। वह 'स्वस्ति' कहकर उसकी आज्ञा से बैठ गया।

भवभूतिः प्राह—'देव,

नानीयन्ते मधुनि मधुपाः पारिजातप्रसूनै-
र्नाभ्यर्थ्यन्ते तुहिनरुचिनश्चन्द्रिकायां चकोराः ।
अस्मद्वाङ्माधुरिमधुरसापद्यपूर्वावताराः
सोल्लासाः स्युः स्वयमिह बुधाः किं मुधाभ्यर्थनाभिः ॥२४५॥

भवभूति ने कहा—महाराज,

भौंरे मधु पर पारिजात (कल्प वृक्ष) के फूलों द्वारा नहीं लाये जाते; शीतल कांति चंद्रमाकी चाँदनी के निमित्त चकोरों की अभ्यर्थना नहीं की जाती (ये स्वयं ही आकृष्ट होते हैं।) इसी प्रकार मेरी वाणी की माधुरी के मिठास को प्राप्त कर पहिले से यहाँ पधारे विद्वज्जन स्वयं ही उल्लसित हो जायेंगे—व्यर्थ अभ्यर्थना करने से क्या लाभ ?

नास्माकं शिबिका न कापि कटकाद्यालङ्क्रियासत्क्रिया
नोत्तुङ्गस्तुरगो न कश्चिदनुगो नैवाम्बरं सुन्दरम् ।
किन्तु क्ष्मातलवर्त्यशेषविदुषां साहित्यविद्याजुषां
चेतस्तोषकरी शिरोनतिकरी विद्यानवद्यास्ति नः ॥२४६॥

हमारे पास न तो पालकी है, न सत्कार के लिए सुसज्जित मुलायम बिछौना; न ऊँचा घोड़ा है, न कोई अनुचर और न सुन्दरवस्त्र; किंतु धरती पर विद्यमान समस्त साहित्यविद्या के ज्ञाता विद्वानों के चित्त को सन्तुष्ट करने वाली और उनके शिर को विनत करने वाली श्रेष्ठ विद्या है।

चंद्रमंडल (मुख) खिन्न हो गया; माला से ग्रथित अंधकार बिखर गया (पुष्पमाल से युक्त केशराशि बिखर गयी); पहिले खिलते केतक-पुष्प की कोर की लीला करने वाली सुंदर मुसकान शांत हो गयी, कुंडलों का नृत्य समाप्त हो गया, कुवलयों का जोड़ा (दोनों नेत्र) मुँद गया और प्रवालों (ओष्ठों) से सी-सी करना बंद हो गया—तत्पश्चात् न जाने क्या हुआ ?

राजा कालिदासं प्राह—'सुकवे, भवभूतिना सह साम्यं तव न वक्तव्यम्।' भवभूतिराह—'देव, किमिति वारयसि।' राजा—'सर्वप्रकारेण कविरसि।' ततो बाणः प्राह—'राजन्, भवभूतिः कविश्चेत् कालिदासः किं वक्तव्यः राजा—'बाणकवे, कालिदासः कविर्न। किन्तु पार्वत्याः कश्चिदवनौ पुरुषावतार एव।' ततो भवभूतिराह—'देव, किमत्र प्राशस्त्यं भाति।' राजा प्राह—'भवभूते, किमु वक्तव्यं प्राशस्त्यं कालिदासश्लोके। यतः 'केतकशिखालीलायितं सुस्मितम्' इति पठितम्।' ततो भवभूतिराह—'देव, पक्षपातेन वदसि' इति। ततः कालिदासः प्राह—'देव अपख्यातिर्मा भूत्। भुवनेश्वरीदेवतालयं गत्वा तत्सन्निधौ तां पुरस्कृत्य घटे संशोधनीय त्वया।'

राजा ने कालिदास से कहा—'हे सुकवि, भवभूति के साथ तुम्हारी समता अवचनीय है।' भवभूति ने कहा—'महराज, क्यों निवारण करते हैं ?' राजा—'तुम सब प्रकार से कवि हो।' तो बाण ने कहा—'राजन्, यदि भवभूति कवि है, तो कालिदास को क्या कहा जाय ?' राजा—'कवि बाण, कालिदास कवि नहीं है, अपितु धरती पर पार्वती का एक पुरुषावतार ही है।' तो भवभूति ने कहा—'महाराज, इसमें प्रशंसनीय क्या प्रतीत होता है ?' राजा ने कहा—'भवभूति, कालिदास के श्लोक की प्रशंसनीयता के विषय में कहना क्या ? क्या कहा है—'केतक-पुष्प की कोर की लीला करने वाली सुंदर मुसकान' ! तो भवभूति ने कहा—'महाराज, पक्षपात पूर्ण कहते हैं ?' तो कालिदास ने कहा—'महाराज, अपकीर्ति न हो। भुवनेश्वरी देवी के मंदिर में जाकर उसके निकट कविता को रखकर आप घट द्वारा परीक्षण करें।

ततो भोजः सर्वकविवृन्दपरिवृतः सन्भुवनेश्वरीदेवालयं प्राप्य तत्र तत्सन्निधौ भवभूतिहस्ते घटं दत्त्वा श्लोकद्वयं च तुल्यपत्रद्वये लिखित्वा

तुलायां मुमोच । ततो भवभूतिभागे लघुत्वोद्भूतामीषदुन्नतिं ज्ञात्वा देवी भक्तपराधीना सदसि तत्परिभवो मा भूदिति स्वावतंसकह्लारमकरन्दं वामकरनखाग्रेण गृहीत्वा भवभूतिपत्रे चिक्षेप ।

तो फिर समस्त कवि मंडली के साथ भोज भुवनेश्वरी देवी के मंदिर पहुँचे और उनके सान्निध्य में भवभूति के हाथ में घट देकर और दोनों श्लोक दो समान पत्रों पर लिखकर तराजू में रख दिये । तब फिर भवभूति वाले भाग को हलकेपन के कारण कुछ ऊँचा उठा देख भक्त के अधीन देवी ने यह विचार कर कि मेरे भक्त भवभूति की सभा में अप्रतिष्ठा न हो, अपने कर्ण फूल के कमल की मकरंद बायें हाथ के नख की कोर से लेकर भवभूति के (श्लोक वाले) पत्र में डाल दी ।

ततः कालिदासः प्राह--

'अहो मे सौभाग्यं मम च भवभूतेश्च भणितं
घटायामारोप्य प्रतिफलति तस्यां लघिमनि ।
गिरां देवी सद्यः श्रुतिकलितकह्लारकलिका-
मधूलीमाधुर्यं क्षिपति परिपूर्त्यै भगवती' ॥ २५३ ॥

तो कालिदास ने कहा--

अहा, मेरा सौभाग्य है कि मेरी और भवभूति की काव्योक्ति को तुला में रखने पर भवभूति की उक्ति में जब हलकापन आने लगा तो उसकी पूर्ति के लिए भगवती वाग्देवी ने तुरंत कान में पहिनी कमल कली के मकरंद के माधुर्य को रख दिया ।

ततः कालिदासपादयोः पतति भवभूतिः । राजानं च विशेषज्ञं मनुते स्म । ततो राजा भवभूतिकवये शतं मत्तगजान्ददौ ।

तब भवभूति कालिदास के पैरों पड़ गये और राजा को विशेषज्ञ मान लिया । तो राजा ने भवभूति कवि को सौ मतवाले हाथी दिये ।

--:o:--

(२०) दानस्य कतिपयकथाः

अन्यदा राजा धारानगरे रात्रावेकाकी विचरन्काञ्चन स्वैरिणीं सङ्केतं गच्छन्तीं दृष्ट्वा पप्रच्छ--'देवि, का त्वम् । एकाकिनी मध्यरात्रौ क्व गच्छसि' इति ।

एक वार धारा नगर में एकाकी विचरण करते राजा ने एक स्वेच्छा विहारिणी को संकेत-स्थल (पूर्व निश्चित मिलन स्थान) की ओर जाती देख पूछा—'हे देवी, तुम कौन हो ? आधी रात में अकेली कहाँ जा रही हो ?'

ततश्चतुरा स्वैरिणी सा तं रात्रौ विचरन्तं श्रीभोजं निश्चित्य प्राह—

'त्वत्तोऽपि विषमो राजन्विषमेषुः क्षमापते ।
शासनं यस्य रुद्राद्या दासवन्मूर्ध्नि कुर्वते ॥ २५४ ॥

ततस्तुष्टो राजा दोर्दण्डादादायाङ्गदं वलयं च तस्यै दत्तवान् । सा च यथास्थानं प्राप ।

तो वह चतुर इच्छाचारिणी यह निश्चय करके कि यह रात में विचरण करता राजा भोज है, उससे बोली—

हे धरती के स्वामी राजा, विषमबाण (पंचबाण कामदेव) आपसे भी अधिक उग्र है, जिसके शासन को रुद्रादि देव दास के समान शिरोधार्य करते हैं ।

संतुष्ट हो राजा ने भुजदंड से बाजूबंद और कंगन उसे दिये । और वह भी अपने निश्चित स्थान को चली गयी ।

ततो वर्त्मनि गच्छन्क्वचिद्गृह एकाकिनीं रुदतीं नारीं दृष्ट्वा 'किमर्थमर्धरात्रौ रोदिति । किं दुःखमेतस्याः ।' इति विचारयितुमेकमङ्गरक्षकं प्राहिणोत् ।

तदनंतर मार्ग में जाते हुए किसी घर में एक अकेली स्त्री को रोती देख—'यह आधी रात को क्यों रो रही है ? इसको क्या दुःख है ?—यह विचारने के लिए एक अंगरक्षक को भेजा ।

ततोऽङ्गरक्षकः पुनरागत्य प्राह—'देव, मया पृष्टा यदाह तच्छृणु—

वृद्धोमत्पतिरेप मञ्चकगतः स्थूणावशेपं गृहं
कालोऽयं जलदागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो ।
यत्नात्सञ्चिततैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरालसां निजवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति ॥ २५५ ॥'

ततः कृपावारिधिः क्षोणीपालस्तस्यै लक्षं ददौ ।

तो लौटकर अंगरक्षक बोला—'महाराज, मेरे पूछने पर उसने जो कहा, सो सुनिए—

'यह मचिया पर पड़ा, बूढ़ा मेरा पति है; यह मेरा घर है, जिसमें थूनी-मात्र शेष है; यह बरसात के आने का समय है और मेरे बच्चे का कोई कुशल समाचार भी नहीं है। प्रयत्न पूर्वक संचित तेल की मटकी भी फूट गयी',—तो अत्यंत व्याकुल हो गर्भ के भार से अलसाती अपनी पुत्र-वधू को देखकर (बूढ़ी) सास बहुत देर से रो रही है।

तब कृपा से सागर पृथ्वीपालक ने उसके लिए लाख मुद्राएँ दीं।

अन्यदा कोङ्कणदेशवासी विप्रो राज्ञे 'स्वस्ति' इत्युक्त्वा प्राह—

शुक्तिद्वयपुटे भोज यशोऽब्धौ तव रोदसी।
मन्ये तदुद्भवं मुक्ताफलं शीतांशुमण्डलम् ॥ २५६ ॥

राजा तस्मै लक्षं ददौ।

दूसरी बार कोंकण देश का निवासी एक ब्राह्मण 'राजा का कल्याण हो,' यह कहकर बोला—

हे भोज, ये आकाश और धरती तेरे यश-सागर में पड़ी सीपी के दो पुट हैं, मैं मानता हूँ कि यह शीत किरण चंद्रमंडल उसी से उत्पन्न मोती है।

राजा ने उसे लाख मुद्राएँ दीं।

अन्यदा काश्मीरदेशात्कोऽपि कौपीनावशेषो राजनिकटस्थकवीन्कन-कमाणिक्यपट्टदुकूलालङ्कृतानवलोक्य राजानं प्राह—

नो पाणी वरकङ्कणक्वणयतो नो कर्णयोः कुण्डले
शुभ्यत्क्षीरधिदुग्धमुग्धमहसी नो वाससी भूषणम्।
दन्तस्तम्भविकासिका न शिविका नाश्वोऽपि विश्वोन्नतो
राजन्राजसभासुभावितकलाकौशल्यमेवास्ति नः ॥ २५७ ॥

ततस्तस्मै राजा लक्षं ददौ।

एक और बार काश्मीर देश से आया कोई कौपीन मात्र धारी व्यक्ति राजा के समीपवर्ती कवियों को सुवर्ण, माणिक और रेशमी वस्त्रों में सुसज्जित देखकर बोला—

सुंदर कंगन खनकाते मेरे हाथ नहीं हैं और न मेरे कानों में कुंडल हैं; न लहराते क्षीर समुद्र के दुग्ध के समान मुग्ध करने वाली शुभ्र कांति वाले वस्त्र हैं और न आभूषण; हाथी दाँत के डंडों से निर्मित न तो पालकी ही है और न खूब ऊँचा घोड़ा;—हे राजा, राजसभा में भली भाँति व्यक्त करने की कला का चातुर्य ही मेरे पास है।

तो उसे राजाने लाख मुद्राएँ दीं

अन्यदा राजा रात्रौ चन्द्रमण्डलं दृष्ट्वा तदन्तस्थकलङ्कं वर्णयति स्म—

'अङ्कं केऽपि शशङ्किरे जलनिधेः पङ्कं परे मेनिरे
सारङ्गं कतिचिच्च सञ्जगदिरे भूच्छायमैच्छन्परे।'

इति राजा पूर्वार्धं लिखित्वा कालिदासहस्ते ददौ।

दूसरी बार राजा रात में चंद्रमंडल देखकर उसके भीतर स्थित कालिमा चिह्न का वर्णन करने लगा—

कुछ कलंक की शंका करते, कुछ कहते समुद्र की पंक;
कुछ कहते यह हिरन और कुछ धरती की छाया यह अंक।

राजा ने इस प्रकार श्लोक का पूर्वार्ध लिखकर कालिदास के हाथ में दे दिया।

ततः स तस्मिन्नेव क्षण उत्तरार्धं लिखति कविः—

'इन्दौ यद्दलितेन्द्रनीलशकलश्यामं दरीदृश्यते।
तत्सान्द्रं निशि पीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमाचक्ष्महे' ॥ २५८ ॥

राजा प्रत्यक्षरलक्षमुत्तरार्धस्य दत्तवान्।

तो उस कवि ने उसी क्षण उत्तरार्ध लिख दिया—

इंद्र नीलमणि-खंड दीखता जो चंदा में काला-सा,
सब पिया रात में घना अँधेरा, पड़ा पेट में पाला-सा।

राजा ने उत्तरार्ध के लिए प्रत्येक अक्षर पर लाख मुद्राएँ दीं।

ततो राजा कालिदास—कवितापद्धतिं वीक्ष्य चमत्कृतः पुनराह—'सखे, अकलङ्कं चन्द्रमसं व्यावर्णय' इति।

तो राजा ने कालिदास की काव्य-रचना-प्रणाली को देखकर चमत्कृत हो फिर कहा—'मित्र, निष्कलंक चंद्रमा का वर्णन करो।'

ततः कविः पठति—

'लक्ष्मीक्रीडातडागो रतिधवलगृहं दर्पणो दिग्वधूनां
पुष्पं श्यामालतायास्त्रिभुवनजयिनो मन्मथस्यातपत्रम्।
पिण्डीभूतं हरस्य स्मितममरधुनीपुण्डरीकं मृगाङ्को
ज्योत्स्नापीयूषवापी जयति सितवृषस्तारकागोलकस्य' ॥२५९॥

राजा पुनः प्रत्यक्षरलक्षं ददौ।

तो कवि ने पढ़ा—

लक्ष्मी का क्रीडा-सर चंदा या है रति का शुभ्र निवास,
दिग्भामिनियों का या दर्पण, श्यामलता का फूल सुहास,
त्रिभुवनजयी काम का छाता, शिव की पिंड भूत मुसकान,
यह मृगांक है नील गगन में सुरगंगा के कमल समान,
विमल चाँदनी की अमृत से है परिपूर्ण बावड़ी यह,
घूम रहा है वृषभ श्वेत ताराओं के मंडल में यह।

राजा ने फिर प्रत्येक अक्षर पर लाख मुद्राएँ दीं।

एकदा कश्चिद् दूरदेशादागतो वीणाकविराह—

'तर्कव्याकरणाध्वनीनधिषणो नाहं न साहित्यवि-
ज्ञो जानामि विचित्रवाक्यरचनाचातुर्यमत्यद्भुतम्।
देवी कापि विरञ्चिवल्लभसुता पाणिस्थवीणाकल-
क्वाणाभिज्ञरवं तथापि किमपि ब्रूते मुखस्था मम' ॥ २६० ॥

राजा तस्मै लक्षं ददौ।

एक बार दूर देश से आये किसी वीणा कवि ने कहा—

तर्क, व्याकरण आदि में मेरा बुद्धि-प्रवेश नहीं है और न मैं साहित्य का वेत्ता हूँ; अद्भुत और अनोखी वाक्य-रचना के कौशल को भी मैं नहीं जानता; तो भी विधाता की प्रिय पुत्री कोई देवी अपने हाथ में ली वीणा की मनोहर ध्वनि के समान सुंदर शब्द मेरे मुख में स्थित हो बोलती है।

राजा ने उसे लाख मुद्राएँ दीं।

बाणस्तस्य सुललितप्रबन्धं श्रुत्वा प्राह—'देव,

मातङ्गीमिव माधुरीं ध्वनिविदो नैव स्पृशन्त्युत्तमां
व्युत्पत्तिं कुलकन्यकामिव रसोन्मत्ता न पश्यन्त्यमी।

कस्तूरीघनसारसौरभसुहृद्व्युत्पत्तिमाधुर्ययो-
र्योगः कर्णरसायनं सुकृतिनः कस्यापि सम्पद्यते' ॥ २६१ ॥

उसकी सुंदर ललित प्रबंध-रचना को सुनकर बाण ने कहा—

ध्वनि वेत्ता (काव्य की आत्मा ध्वनि को मानने वाले) उत्तमा माधुरी (मधुर शब्द योजना) को चांडाल कन्या के समान अस्पृश्य मानते है और ये रस के मतवाले (रसवादी) जैसे कोई कुलकन्या को देख भी नहीं पाता है, वैसे ही व्युत्पत्ति (प्रस्तुति) को नही देखते; कस्तूरी और चंदन के सुगंध के संयोग के समान व्युत्पत्ति और माधुर्य—प्रस्तुति और मधुर योजना—का कानों के रसायन (अत्यधिक प्रिय) सदृश योग किसी सुकृती के काव्य में हो पाता है।

अन्यदा राजा सीतां प्रति प्राह—'देवि, प्रभातं व्यावर्णय' इति। सीता प्राह—

'विरलविरलाः स्थूलास्ताराः कलाविव सज्जना
मन इव मुनेः सर्वत्रैव प्रसन्नमभून्नभः।
अपसरति च ध्वान्तं चित्तात्सतामिव दुर्जनो
व्रजति च निशा क्षिप्रं लक्ष्मीरनुद्यमिनामिव' ॥ २६२ ॥

एक अन्य बार राजा ने सीता से कहा—'हे देवि, प्रभात का वर्णन करो।' सीता ने कहा—

जैसे कलियुग में सज्जन विरल हैं, वैसे ही बड़े तारे कहीं-कहीं हैं; जैसे मुनियों का मन सर्वत्र प्रसन्न रहता है, वैसे ही सब ओर आकाश स्वच्छ है; जैसे सज्जनों के चित्त से दुष्ट व्यक्ति निकल जाता है, वैसे ही अंधकार जा रहा है और रात शीघ्रता पूर्वक उसी प्रकार जा रही है, जैसे उद्यमहीन व्यक्तियों की लक्ष्मी चली जाती है।

राजा लक्षं दत्त्वा कालिदासं प्राह—'सखे सुकवे, त्वमपि प्रभातं व्यावर्णय' इति।

राजा ने लाख मुद्राएँ सीता को देकर कालिदास से कहा—'सुकवि मित्र, तुम भी प्रभात का वर्णन करो।'

कालिदासः—

'अभूत्प्राची पिङ्गा रसपतिरिवापश्य कनकं
गतच्छायश्चन्द्रो बुधजन इव ग्राम्यसदसि ।
क्षणात्क्षीणास्तारा नृपतय इवानुद्यमपरा
न दीपा राजन्ते द्रविणरहितानामिव गुणाः' ॥ २६३ ॥

राजा तस्मै प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ ।

कालिदास—जैसे सोने के योग से रसराज पारद पीला हो जाता है, वैसे ही पूर्व दिशा पीली पड़ गयी; जैसे गँवारों की सभा में विद्वान श्रीहीन हो जाता है, वैसे ही चंद्रमा शोभाहीन हो गया; जैसे अनुद्योगी राजा क्षीण हो जाते है, वैसे ही इस क्षण तारे क्षीण हो गये; और जैसे धनहीन व्यक्तियों के गुण प्रतिष्ठित नहीं हो पाते, वैसे ही दीपक अब शोभित नहीं हैं ।

राजा ने कालिदास को प्रत्येक अक्षर पर लाख मुद्राएँ दीं ।

अन्यदा द्वारपाल आगत्य प्राह—'देव, कापि मालाकारपत्नी द्वारि तिष्ठति' इति । राजाह—'प्रवेशय' इति । ततः प्रवेशिता सा च नमस्कृत्य पठति—

'समुन्नतघनस्तनस्तबकचुम्बितुम्बीफल-
क्वणन्मधुरवीणया विबुधलोकलोलभ्रुवा ।
त्वदीयमुपगीयते हरकिरीटकोटिस्फुर-
त्तुषारकरकन्दलीकिरणपूरगौरं यशः' ॥ २६४ ।

राजा 'अहो महती पदपद्धतिः' इति तस्याः प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ ।

अन्य वार द्वारपाल आकर बोला—'महाराज, कोई मालिन द्वार पर उपस्थित है ।' राजा ने कहा—'प्रविष्ट कराओ ।' तो प्रविष्ट हो उसने नमस्कार कर पढ़ा—

देवलोक की चंचल भ्रूकुटि वाली सुंदरियाँ अत्युन्नत और सघन स्तन-गुच्छों का चुंबन करते तूँबों से युक्त मधुर स्वर देने वाली वीणाओं पर शिव के मुकुटाग्र भाग पर चमकते हिमकर चंद्रमा की किरणों के प्रवाह के समान गौर आपके यश का गान किया करती हैं ।

राजाने विचारा 'अहा, इसकी पद योजना शैली श्रेष्ठ है'—और उसे प्रत्येक अक्षर पर लाख मुद्राएँ दीं ।

अन्यदा रात्रौ राजा धारानगरे विचरन्कस्यचिद्गृहे कामपि कामिनीमुलूखलपरायणां ददर्श। राजा तां तरुणीं पूर्णचन्द्राननां सुकुमाराङ्गीं विलोक्य तत्करस्थं मुसलं प्राह—'हे मुसल, एतस्याः करपल्लवस्पर्शेनापि त्वयि किसलयं नासीत्। तर्हि सर्वथा काष्ठमेव त्वम्' इति। ततो राजा एकं चरणं पठति स्म—

'मुसल किसलयं ते तत्क्षणाद्यन्न जातम्।

और कभी रात मे धारा नगर में विचरते राजा ने किसी घर में किसी कामिनी को ऊखल में कूटते देखा। उस तरुणी के पूर्ण चंद्रमा के समान मुख और सुकुमार अंगों को देखकर राजा ने उसके हाथ के मूसल से कहा—'हे मूसल, इसके कर पल्लव के स्पर्श से भी यदि तुझ में कोंपल नहीं फूटी तो तू सब प्रकार से काठ ही है।' तो राजा ने एक पद पढ़ा—

मूसल, तुझ में यदि फूटी नहीं कोंपल···।

ततो राजा प्रातःसभायां समागतं कालिदासं वीक्ष्य 'मुसल किसलयं ते तत्क्षणाद्यन्न जातम्' इति पठित्वा 'सुकवे, त्वं चरणत्रयं पठ' इत्युवाच।

तदनंतर प्रातः काल सभा में आये कालिदास को देखकर राजा ने 'मूसल, तुझमें यदि फूटी नहीं कोंपल···' यह पढ़कर उससे कहा 'हे सुकवि, अब तीन शेष पद तुम पढ़ो।'

ततः कालिदासः प्राह—

'जगति विदितमेतत्काष्ठमेवासि नूनं
तदपि च किल सत्यं कानने वर्धितोऽसि।
नवकुवलयनेत्रीपाणिसङ्गोत्सवेऽस्मि-
न्मुसल किसलयं ते तत्क्षणाद्यन्न जातम्॥ २६५॥

ततो राजा चरणत्रयस्य प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ।

तो कालिदास ने कहा—

निश्चय तू काठ है, जानता है यह सारा जग,
यह भी फिर सच है कि जंगल में पला है तू,
पाणि-संग पाकर भी नवलकमलनयना का
मूसल, तुझ में यदि फूटी नहीं कोंपल!

तो राजा ने तीन पदों पर प्रति अक्षर लाख मुद्राएँ दीं।

(२१) देवजयहरिशर्मणोः स्पर्धा

अन्यदा राजा दीर्घकालं जलकेलिं विधाय परिश्रान्तस्तत्तीरस्थवटविटपिच्छायायां निषण्णः। तत्र कश्चित्कविरागत्य प्राह—

'छन्नं सैन्यरजोभरेण भवतः श्रीभोजदेव क्षमा-
रक्षादक्षिण दक्षिणक्षितिपतिः प्रेक्ष्यान्तरिक्षं क्षणात्।
निःशङ्को निरपत्रपो निरगुनो निर्बान्धवो निःसुहृन्-
निस्त्रीको निरपत्यको निरनुजो निर्हाटको निर्गतः॥२६६॥

और एक बार बहुत समय तक जल क्रीडा करके थका राजा सरोवर के तटवर्ती वृक्ष की छाया में बैठा था। वहाँ कोई कवि आकर बोला—

क्षमा और रक्षा करने में एक सम श्री भोजदेव, आपकी सेना से उड़ी धूल से ढके नभ को देखकर दक्षिण की धरती का स्वामी शंका त्याग, लज्जा त्याग, अनुचरहीन, बंधुहीन, मित्र और पत्नी हीन, संतति और भ्रातृ हीन, छोड़कर सोना, धन, संपति शीघ्रतया भाग गया।

किञ्च—

अकाण्डधृतमानसव्यवसितोत्सवैः सारसै-
रकाण्डपटुताण्डवैरपि शिखिण्डिनां मण्डलैः।
दिशः समवलोकिताः सरसनिर्भरप्रोल्लस-
द्भवत्पृथुवरूथिनीरजनिभूरजः श्यामलाः॥ २६७॥

ततो राजा लक्षद्वयं ददौ।

और क्या कहूँ?—मानसर में सारस अकारण ही (वर्षा आयी समझ) उत्सव मनाने लगे; अकारण ही (मेघागम समझ) मयूर मंडली ने नृत्य चातुरी दिखानी आरब्ध कर दी;—हुआ यह कि उत्साह और उल्लास से परिपूर्ण आपकी विशाल सेना के संचरण से धूलि उड़ने के कारण रात-सी प्रतीति कराती दिशाएँ श्यामल दीखने लगीं।

तो राजा ने दो लाख मुद्राएँ दीं।

तदानीमेव तस्य शाखायामेकं काकं रटन्तं प्रेक्ष्य कोकिलं चान्यशाखायां कूजन्तं वीक्ष्य देवजयनामा कविराह—

'नो चारू चरणौ न चापि चतुरा चञ्चूर्न वाच्यं वचो
नो लीलाचतुरा गतिर्न च शुचिः पक्षग्रहोऽयं तव।

क्रूरक्रेङ्कृतिनिर्भरां गिरमिह स्थाने वृथैवोद्गिर-
न्मूर्ख ध्वाङ्क्ष न लज्जसेऽप्यसदृशं पाण्डित्यमुन्नाटयन्' ॥२६८॥

उसी समय उस वृक्ष की (जिसके नीचे भोज विश्राम कर रहे थे) एक शाखा पर काँउ-काँउ करते कौए और दूसरी डाली पर कूकती कोयल को देखकर देवजय नामक कवि ने कहा—

न तो तेरे सुंदर पैर हैं और न चोंच; न मधुरी वाणी है, न लीला-मनोरम गति और न पावन पंख ही। अरे मूर्ख काक, इस स्थान पर केवल कर्कश काँउ-काँउ-भरी वाणी व्यर्थ उच्चारते और बेतुकी पंडिताई का नाटय करते तुझे लज्जा नहीं आती ?

तत एनां देवजयकविना काकमिषेण विरचितां स्वगर्हणां मन्यमानस्तत्स्पर्धालुर्हरिशर्मा नाम कविः कोपेनेर्ष्यापूर्वं प्राह—

'तुल्यवर्णच्छदः कृष्णः कोकिलैः सह सङ्गतः।
केन व्याख्यायते काकः स्वयं यदि न भाषते' ॥ २६९ ॥

तब देवजय कवि द्वारा काक के व्याज से रचित इस (पद योजना) से अपना अपमान मानता हुआ उससे स्पर्धा करनेवाला हरि शर्मा नाम का कवि ईर्ष्या पूर्वक क्रोध से बोला—

एक जैसे रंग और पंखों वाले, कोकिल कुल की संगति में रहनेवाले काले कौए को कौन पहिचान पाता यदि वह स्वयं न बोलता ?

ततो राजा तयोर्हरिशर्मदेवजययोरन्योन्यवैरं ज्ञात्वा मिथ आलिङ्गनादिवस्त्रालङ्कारादिदानेन च मित्रत्वं व्यधात्।

तो राजा ने हरि शर्मा और देवजय नामक उन कवियों का परस्पर वैर जानकर दोनों को गले मिलवा कर और वस्तु आभूषणादि देकर उनमें मित्रता करा दी।

—:o:—

(२२) विदुषां काशीगमनम्

अन्यदा राजा यानमारुह्य गच्छन्वर्त्मनि कञ्चित्तपोनिधिं दृष्ट्वा तं प्राह—'भवादृशानां दर्शनं भाग्यायत्तम्। भवतां क्व स्थितिः। भोजनार्थं के वा प्रार्थ्यन्ते' इति।

एक बार राजा ने यान पर चढ़कर जाते हुए मार्ग में किसी तपस्वी को देखकर उससे कहा—'आप जैसे तपस्वियों का दर्शन भाग्याधीन होता है। आपका ठाँव कहाँ है और भोजन के निमित्त आप किनसे प्रार्थना करते हैं ?

ततः स राजवचनमाकर्ण्य तपोनिधिराह—

'फलं स्वेच्छालभ्यं प्रतिवनमखेदं क्षितिरुहां
पयः स्थाने स्थाने शिशिरमधुरं पुण्यसरिताम्।
मृदुस्पर्शा शय्या सुललितलतापल्लवमयी
सहन्ते सन्तापं तदपि धनिनां द्वारि कृपणाः ॥ २७० ॥

राजन्, वयं कमपि नाभ्यर्थयामः, न गृह्णीमश्च' इति। राजा तुष्टो नमति।

राजा के वचन सुनकर उस तपोधन ने कहा—

'बिना कष्ट ही वृक्षों के फल वन-वन स्वेच्छा से मिल जाते;
शीतल, मधुर पुण्य नदियों का ठाँव-ठाँव जल हम पा जाते;
लता-पल्लवों की मृदु कोमल चिकनी शय्या पर सोते हैं,
कृपण व्यक्ति धनियों के द्वारे तो भी ताप-तप्त होते हैं।

हे राजा, न हम किसी से प्रार्थना करते हैं, न लेते हैं।' तुष्ट हो राजा ने प्रणाम किया।

तत उत्तरदेशादागत्य कश्चिद्राजानं स्वस्ति' इत्याह। तं च राजा पृच्छति—'विद्वन्, कुत्र ते स्थितिः' इति।

तदनंतर उत्तर देश से एक विद्वान ने आकर राजा से 'स्वस्ति' कहा। राजा ने उससे पूछा—'हे विद्वान्, तुम्हारा स्थान कहाँ है ?'

विद्वानाह—

'यत्राम्बु निन्दत्यमृतमन्त्यजाश्च सुरेश्वरान्।
चिन्तामणिं च पाषाणास्तत्र नो वसतिः प्रभो' । २७१ ॥

विद्वान् बोला—

जहाँ का जल अमृत से श्रेष्ठ, देवराजों-से अंत्यज दास;
दिव्य चिंतामणिसे पाषाण, वहीं है देव, हमारा वास।

तदा राजा लक्षं दत्त्वा प्राह—'काशीदेशे का विशेषवार्ता' इति। स आह—'देव, इदानीं काचिदद्भुतवार्ता तत्र लोकमुखेन श्रुता—देवा दुःखेन दीनाः' इति। राजा—'देवानां कुतो दुःखं विद्वन्।'

तो राजा ने लाख मुद्राएँ देकर कहा—'काशी देश का क्या विशेष समाचार है?'

वह बोला—'महाराज, वहाँ लोगों के मुँह से इन दिनों विचित्र बात सुनी गयी है कि—देवगण दुःख से दीन हैं।' राजा ने कहा—'हे विद्वान, देवों को कहाँ से दुःख?'

स चाह—

निवासः क्वाद्य नो दत्तो भोजेन कनकाचलः।
इति व्यग्रधियो देवा भोज वार्तेति नूतना' ॥ २७२ ॥

ततो राजा कुतूहलोक्त्या तुष्टः संस्तस्मै पुनर्लक्षं ददौ।

वह बोला—'महाराज, यही तो नयी बात है। देवगण, व्यग्र हो विचार रहे हैं कि राजा भोज ने स्वर्ण गिरि सुमेरु का दान कर दिया, आज हम रहेंगे कहाँ?'

तो राजा ने इस कुतूहल पूर्ण उक्ति पर संतुष्ट हो उसे पुनः लाख मुद्राएँ दीं।

ततो द्वारपालः प्राह—'देव, श्रीशैलादागतः कश्चिद्विद्वान्ब्रह्मचर्यनिष्ठो द्वारि वर्तते' इति। राजा—'प्रवेशय' इत्याह। तत आगत्य ब्रह्मचारी 'चिरं जीव' इति वदति। राजा तं पृच्छति—'ब्रह्मन्, बाल्य एव कलिकालाननुरूपं किं नामव्रतं ते। अन्वहमुपवासेन कृशोऽसि। कस्यचिद्ब्राह्मणस्य कन्यां तुभ्यं दापयिष्यामि, त्वं चेद्गृहस्थधर्ममङ्गीकरिष्यसि' इति।

तदनंतर द्वारपाल ने कहा—'महाराज, श्री शैल से आया कोई ब्रह्मचर्य व्रतधारी विद्वान् द्वार पर उपस्थित है।' राजा ने कहा—'प्रविष्ट कराओ।' तब ब्रह्मचारी ने आकर कहा—चिरकाल जिओ।' राजा ने उससे पूछा—'हे ब्रह्मचारिन्, बाल्यावस्था में ही कलिकाल के असदृश यह तुम्हारा कैसा व्रत है? प्रतिदिन के उपवास से दुर्बल हो गये हो। यदि तुम गृहस्थ धर्म स्वीकारो तो किसी ब्राह्मण की कन्या से तुम्हारा विवाह करा दूँ।'

ब्रह्मचारी प्राह—'देव, त्वमीश्वरः। त्वया किमसाध्यम्।

सारङ्गाः सुहृदो गृहं गिरिगुहा शान्तिः प्रिया गेहिनी
वृत्तिर्वन्यलताफलैर्निवसनं श्रेष्ठं तरूणां त्वचः।
तद्ध्यानामृतपूरमग्नमनसां येषामियं निर्वृति-
स्तेषामिन्दुकलावतंसयमिनां मोक्षेऽपि नो न स्पृहा' ॥ २७३ ॥

ब्रह्मचारी बोला—'महाराज, आप समर्थ हैं, आप से क्या असाध्य है ?—

'हिरन-चातकादि पशु-पक्षी मित्र हैं, पर्वत की गुफा घर है, शांति प्रिय घरनी है, वन-लताओं के फल आहार हैं और वृक्षों की छाल ही निःशेष वस्त्र हैं। उनके ध्यान रूपी अमृत प्रवाह में जिनका मन मग्न रहता है और जिनका जीवन व्यापार इसी प्रकार चलता है, उन चंद्रकला के धारी शिव के व्रतधारियों को मोक्ष की भी कामना नहीं रहती।'

राजोत्थाय पादयोः पतति। आह च—'ब्रह्मन्, मया किं कर्तव्यम्' इति। स आह—'देव, वयं काशीं जिगमिषवः। तत एवं विधेहि। ये त्वत्सदने पण्डितवरास्तान्सर्वानपि सपत्नीकान्काशीं प्रति प्रेषय। ततोऽहं गोष्ठीतृप्तः काशीं गमिष्यामि' इति। राजा तथा चक्रे।

राजा उठकर पैरों पड़ा और बोला—'ब्रह्मचारिन्, मुझे क्या करने को कहते हैं ? उसने कहा—'महाराज, हम काशी जाना चाहते हैं; सो ऐसा करो। तुम्हारे भवन में जो अच्छे पंडित हैं, उन सबको भी सपत्नीक काशी भेज दो। तो मैं उनकी संगति में तृप्त होता काशी पहुँच जाऊँगा।' राजा ने वैसे कर दिया।

ततः सर्वे पण्डितवरास्तदाज्ञया प्रस्थिताः। कालिदास एको न गच्छति स्म। तदा राजा कालिदासं प्राह—सुकवे, त्वं कुतो न गतोऽसि' इति। ततः कालिदासो राजानं प्राह—देव, सर्वज्ञोऽसि।

ते यान्ति तीर्थेषु बुधा ये शम्भोर्दूरवर्तिनः।
यस्य गौरीश्वरश्चित्ते तीर्थं भोज परं हि सः' ॥ २७४ ॥

तब सब पंडितवर राजा की आज्ञा से चले गये, एक कालिदास नहीं गया। तो राजा ने कालिदास से कहा—'हे सुकवि, तुम क्यों नहीं गये ?' तो कालिदास ने राजा से कहा—'देव, आप सर्वज्ञाता हैं।

तीर्थ वे बुधजन जाते हैं, जो शिव से दूर रहते हैं। हे भोज, गौरी पति शिव जिसके चित्त में विराजित है, वही परम तीर्थ है।'

ततो विद्वत्सु काशीं गतेषु राजा कदाचित्सभायां कालिदासं पृच्छति स्म—'कालिदास, अद्य किमपि श्रुतं किं त्वया' इति। स आह—

'मेरौ मन्दरकन्दरासु हिमवत्सानौ महेन्द्राचले
कैलासस्य शिलातलेषु मलयप्राग्भारभागेष्वपि।
सह्याद्रावपि तेषु तेषु बहुशो भोज श्रुतं ते मया
लोकालोकविचारचारणगणैरुद्गीयमानं यशः' ॥ २७५ ॥

ततश्चमत्कृतो राजा प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ।

तत्पश्चात् विद्वानों के काशी चले जाने पर एक दिन सभा में राजा ने कालिदास से पूछा—'कालिदास, आज तुमने कुछ सुना ?' उसने कहा—

सुमेरु पर, मंदराचल की कंदराओं में, हिमालय के शिखरों पर, महेंद्र पर्वत पर, कैलास के शिलातलों पर, मलयाचल की ऊँची चोटियों और सह्याद्रि पर भी सर्वत्र गम्य और अगम्य स्थलों पर विचरण करते चारणों द्वारा हे भोज, मैंने बहुत बार तुम्हारा यश सुना।

चमत्कृत हो राजा ने प्रत्येक अक्षर पर लाख मुद्राएँ दीं।

—::—

(२३) शोकतप्तो राजा

ततः कदाचिद्राजा विद्वद्वृन्दं निर्गतं कालिदासं चानवरतवेश्यालम्पटं ज्ञात्वा व्यचिन्तयत्—'अहह, बाणमयूरप्रभृतयो मदीयामाज्ञां व्यदधुः। अयं च वेश्यालम्पटतया ममाज्ञां नाद्रियते। किं कुर्मः' इति ततो राजा सावज्ञं कालिदासमपश्यत्।

तत्पश्चात् विद्वन्मंडली को काशी गया और कालिदास को निरंतर वेश्याव्यसनी जानकर राजा ने सोचा—'अरे, बाण, मयूर आदि ने मेरी आज्ञा का पालन किया और इस (कालिदास) ने वेश्याव्यसनी होने से मेरी आज्ञा का आदर नहीं किया। क्या किया जाय ?' तब राजा कालिदास को अवज्ञा पूर्वक देखने लगा।

तत आत्मनि राज्ञोऽवज्ञां ज्ञात्वा कालिदासो बल्लालदेशं गत्वा तद्देशाधिनाथं प्राप्य प्राह—'देव, मालवेन्द्रस्य भोजस्यावज्ञया त्वद्देशं प्राप्तोऽहं कालिदासनामा कविः' इति। ततो राजा तमासन उपवेश्य प्राह—'सुकवे, भोजसभाया इहागतैः पण्डितैः समुदितः शतशस्ते महिमा। सुकवे, त्वां सरस्वतीं वदन्ति। ततः किमपि पठ' इति।

तो अपने प्रति राजा की उपेक्षा जानकर कालिदास वल्लालदेश चला गया और वहाँ के स्वामी के पास पहुँच बोला—'महाराज, मालव के स्वामी भोज की उपेक्षा के कारण आपके देश में आया मैं कालिदास नामक कवि हूँ।' तो राजा ने उसे आसन पर बैठाकर कहा—'हे सुकवि, भोज की सभा से यहाँ आये पंडितों ने आपके महिमान का शतशः वर्णन किया है। सुकवे, वे आपको सरस्वती कहते हैं सो कुछ पढ़िए।'

ततः कालिदास आह—

'बल्लालक्षोणिपाल त्वदहितनगरे सञ्चरन्ती किराती
कीर्णान्यादाय रत्नान्युरुतरखदिराङ्गारशङ्काकुलाङ्गी।
क्षिप्त्वा श्रीखण्डखण्डं तदुपरि मुकुलीभूतनेत्रा धमन्ती
श्वासामोदानुयातैर्मधुकरनिकरैर्धूमशङ्कां बिभर्ति'॥ २७६॥

ततस्तस्मै प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ।

तो कालिदास ने कहा—

हे वल्लाल भूमि के पालक, आपके शत्रुओं के नगर में घूमती किरात स्त्रियाँ बिखरे रत्नों को लेकर और उन्हें बड़े-बड़े कत्थे (खैर) के अंगार समझ व्याकुल हो उन पर चंदन की लकड़ी के टुकड़े रखकर आँखें आधी मूँद कर उन पर फूँकें मारती हैं; उन चंदन गंधी निःश्वासों से खिचकर उन पर भौरों के समूह आ जाते हैं और किरातियाँ उन्हें धुआँ समझने लगती हैं।

तो राजा ने उन्हें प्रत्येक अक्षर पर लक्ष मुद्राएँ दीं।

ततः कदाचिद्बल्लालराजा कालिदासं पप्रच्छ—'सुकवे, एकशिलानगरीं व्यावर्णय' इति। ततः कविराह—

'अपाङ्गपातैरपदेशपूर्वैरेणीदृशामेकशिलानगर्याम्।
वीथीषु वीथीषु विनापराधं पदे पदे श्रृङ्खलिता युवानः'॥२७७॥

पुनश्च प्रत्यक्षरलक्षं ददौ ।

तदनंतर एक बार वल्लाल नरेश ने कालिदास से कहा—'हे सुकवि, एकशिला नगरी का वर्णन करो । तो कवि ने कहा—

एक शिला नगरी में मृगनयनाओं के कूटाघात पूर्वक कटाक्ष करने से गली-गली में तरुण विना अपराध के ही पग-पग पर शृंखलित (जंजीर में बँधे, आकृष्ट) हो जाते हैं ।

राजा ने फिर से प्रत्येक अक्षर पर लाख मुद्राएँ दीं ।

पुनश्च पठति कविः—

'अम्भोजपत्रायतलोचनानामम्भोधिदीर्घास्विह दीर्घिकासु ।
समागतानां कुटिलैरपाङ्गैरनङ्गबाणैः प्रहृता युवानः' ॥ २७८ ॥

पुनश्च वल्लालनृपः प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ । एवं तत्रैव स्थितः कालिदासः ।

कवि ने फिर पढ़ा—

समुद्र के सदृश बड़ी-बड़ी (एक शिला की) बावड़ियों में आयीं कमलपत्र के समान बड़ी-बड़ी आँखों वाली सुंदरियों के तिरछे कटाक्षों से तरुणजन काम बाणों से पीडित होते रहते हैं ।

वल्लाल नरेश ने पुनः प्रत्येक अक्षर पर लाख मुद्राएँ दीं । इस प्रकार कालिदास वहीं रहने लगा ।

अत्रान्तरे धारानगर्यां भोजं प्राप्य द्वारपालः प्राह—'देव, गुर्जरदेशान्माघनामा पण्डितवर आगत्य नगराद्बहिरास्ते; तेन च स्वपत्नी राजद्वारि प्रेषिता ।' राजा—'तां प्रवेशय' इत्याह । ततो माघपत्नी प्रवेशिता । सा राजहस्ते पत्रं प्रायच्छत् ।

इसी बीच धारा नगरी में भोज के पास पहुँच द्वारपाल ने कहा—'महाराज, गुजरात देश से माघ नामक पंडितवर आकर नगर के बाहर स्थित है और उन्होंने अपनी पत्नी को राजद्वार पर भेजा है ।' राजा ने कहा—'उन्हें प्रविष्ट कराओ ।' तो माघ की पत्नी प्रविष्ट करायी गयीं । उन्होंने राजा के हाथ में पत्र दिया ।

राजा तदादाय वाचयति—

"कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजषण्डं
त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः ।

उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं
हतविधिनिहतानां ही विचित्रो विपाकः' ॥ २७६ ॥इति॥

राजा ने उसे लेकर बाँचा—

कुमुदवन होता शोभा हीन और शोभा युत कमल निकुंज,
कर रहा है उलूक मुद-त्याग और चकवा प्रसन्नता-युक्त
उदय को प्राप्त दिवस कर सूर्य, शीतकर चंदा होता अस्त
भाग्य के मारे मनुजों का हाय, कैसा है विचित्र परिणाम !

राजा तदद्भुतं प्रभातवर्णनमाकर्ण्य लक्षत्रयं दत्त्वा माघपत्नीमाह—'मातः, इदं भोजनाय दीयते। प्रातरहं माघपण्डितमागत्य नमस्कृत्य पूर्णमनोरथं करिष्यामि' इति। ततः सा तदादाय गच्छन्ती याचकानां मुखात्स्वभर्तुः शारदचन्द्रकिरणगौरान्गुणाञ्श्रुत्वा तेभ्य एव धनमखिलं भोजदत्तं दत्तवती। माघपण्डितं स्वभर्तारमासाद्य प्राह—'नाथ, राज्ञा भोजेनाहं बहुमानिता। धनं सर्वं याचकेभ्यस्त्वद्गुणानाकर्ण्य दत्तवती।' माघः प्राह—'देवि, साधु कृतम्। परमेते याचकाः समायान्ति किल। तेभ्यः किं देयम्' इति।

राजा ने उस अद्भुत प्रभात के वर्णन को सुन तीन लाख देकर माघ की पत्नी से कहा—'माता, यह भोजनार्थ दिया जाता है। सवेरे मैं माघ पंडित के पास जा उन्हें प्रणाम कर उनके मनोरथ पूर्ण करूँगा।' तदनंतर उस धन को लेकर जाती हुई उसने याचकों से अपने पति के शरत्कालीन चंद्रमा के समान शुभ्र गुणों को सुनकर उन्हें ही भोजका दिया समस्त धन दे डाला। अपने भर्त्ता माघ पंडित के निकट पहुँच बोली—'स्वामी, राजा भोज ने मेरा बहुत सम्मान किया; परंतु आपके गुणों को सुनकर मैंने याचकों को सब धन दे दिया।' माघ ने कहा—'देवि, अच्छा किया। परन्तु ये याचक चले आ रहे हैं, इन्हें क्या दिया जाय ?

ततो माघपण्डितं वस्त्रावशेषं ज्ञात्वा कोऽप्यर्थी प्राह—

'आश्वास्य पर्वतकुलं तपनोष्णतप्त-
मुद्दामदावविधुराणि च काननानि।

नानानदीनदशतानि च पूरयित्वा
रिक्तोऽसि यज्जलद सैव तवोत्तमश्रीः' ॥ २८० ॥

तो माघ पंडित को वस्त्रमात्रधारी जानकर एक याचक ने कहा--

ग्रीष्म ऋतु की गर्मी से तपे पर्वतों को दे आश्वासन,
तीक्ष्णदावानल से झुलसे लहलहाकार सब कानन-वन,
पूर्ण करके नद-नदी अनेक हुए हो रीते तुम बादल,
तुम्हारी यही उत्तमा श्री और शोभा है यही विमल।

इत्येतदाकर्ण्य माघः स्वपत्नीमाह--'देवि,

अर्था न सन्ति न च मुञ्चति मां दुराशा
त्यागे रतिं वहति दुर्ललितं मनो मे।
याच्ञा च लाघवकरी स्ववधे च पापं
प्राणाः स्वयं व्रजत किं परिदेवनेन ॥ २८१ ॥

यह सुनकर माघ ने अपनी पत्नी से कहा--'देवि,

अर्थ नहीं है, पर न छोड़ती मुझे दुराशा,
मेरा मन दुर्ललित त्याग का ही प्रेमी है।
और याचना छोटा करती; पाप स्ववध में,
प्राणों, स्वयं चले जाओ; रोना निष्फल है।

दारिद्र्यानलसन्तापः शान्तः सन्तोषवारिणा।
याचकाशाविघातान्तर्दाहः केनोपशाम्यति' ॥ २८२ ॥ इति ॥

हुआ दारिद्र्य-अनल का ताप शांत संतोष-शीत जल से
याचकों की आशा के घात से हुआ जो है अंतर्दाह,
किस तरह होगा वह अब शांत ?'

ततस्तदा माघपण्डितस्य तामवस्थां विलोक्य सर्वे याचका यथास्थानं जग्मुः। एवं तेषु याचकेषु यथायथं गच्छत्सु माघः प्राह--

'व्रजत व्रजत प्राणा अर्थिभिर्व्यर्थतां गतैः।
पश्चादपि च गन्तव्यं क्व सोऽर्थः पुनरीदृशः' ॥ २८३ ॥

इति विलपन्माघपण्डितः परलोकमगात्।

तो माघ पंडित की उस अवस्था को देख उस समय वे सब याचक चले गये। उन याचकों को यथा स्थान जाते देख माघ ने कहा

जाओ-जाओ मेरे प्राणो, याचक खाली हाथ गये;
फिर पीछे भी जाना होगा, तब क्या होगा व्यर्थ गये ?

इस प्रकार विलाप करते--करते माघ पंडित परलोक गये।

ततो माघपत्नी स्वामिनि परलोकं गते सति प्राह--

'सेवन्ते स्म गृहं यस्य दासवद्भूभुजः सदा।
स स्वभार्यासहायोऽयं म्रियते माघपण्डितः' ॥ २८४ ॥

तब स्वामी के परलोक जाने पर माघ पत्नी ने कहा--

जिनके घर सदा राजागण दास के समान सेवा करते थे, वे माघ पंडित केवल पत्नी को सहायिका रूप में प्राप्त कर मृत्यु को प्राप्त हो रहे हैं।

ततो राजा माघं विपन्नं ज्ञात्वा निजनगराद्विप्रशतावृतो मौनी रात्रावेव तत्रागात्। ततो माघपत्नी राजानं वीक्ष्य प्राह—'राजन्, यतः पण्डितवरस्त्वद्देशं प्रातः परलोकमगात्, ततोऽस्य कृत्यशेषं सम्यगाराधनीयं भवता' इति। ततो राजा माघं विपन्नं नर्मदातीरं नीत्वा यथोक्तेन विधिना संस्कारमकरोत्। तत्र च माघपत्नी वह्नौ प्रविष्टा। तयोश्च पुत्रवत्सर्वं चक्रे भोजः।

तो माघ को विपद्-ग्रस्त (मृत) जानकर सौ ब्राह्मणों के साथ मौन धारण किये राजा अपने नगर से रात में ही वहाँ पहुँचा। तो माघ की पत्नी ने राजा को देखकर कहा--'हे राजा. क्योंकि पंडितवर (माघ) आपके देश में आकर ही परलोक सिधारे, सो इनका शेष कर्म आपको ही भली भाँति करना चाहिए।' सो राजा ने मृत माघ को नर्मदा के किनारे ले जाकर शास्त्रोक्त विधि के अनुसार संस्कार किया। तदनंतर माघ की पत्नी भी अग्नि में प्रविष्ट हो गयीं। उन दोनों के सब संस्कार पुत्र की भाँति भोज ने किये।

ततो माघे दिवं गते राजा शोकाकुलो विशेषेण कालिदासवियोगेन च पण्डितानां प्रवासेन कृशोऽभूद्दिने दिने बहुलपक्षशशीव। ततोऽमात्यैर्मिलित्वा चिन्तितम्—'वल्लालदेशे कालिदासो वसति। तस्मिन्नागते

राजा सुखीभविष्यति' इति। एवं विचार्यामात्यैः पत्रे किमपि लिखित्वा तत्पत्रं चैकस्यामात्यस्य हस्ते दत्त्वा प्रेषितम्। स कालक्रमेण कालिदास-मासाद्य 'राज्ञोऽमात्यैः प्रेषितोऽस्मि' इति नत्वा तत्पत्रं दत्तवान्।

तब फिर माघ के दिवंगत होने और विशेष रूप में कालिदास के वियोग और पंडितों के प्रवास के कारण शोक से व्याकुल राजा प्रतिदिन कृष्ण पक्ष में चंद्रमा के समान क्षीण होने लगा। तो मंत्रियों ने मिलकर सोचा—'कालिदास वल्लालदेश में वास कर रहे हैं। उनके आने पर ही राजा सुखी होंगे।' ऐसा विचार कर मंत्रियों ने पत्र में कुछ भी लिखा और उस पत्र को एक मंत्री के हाथ में देकर भेजा। वह यथा समय कालिदास के पास पहुँचा और 'मुझे राजा के मंत्रियों ने भेजा है' यह कह उसने प्रणाम करके वह पत्र कालिदास को दिया।

ततस्तत्कालिदासो वाचयति—

न भवति स भवति न चिरं भवति चिरं चेत्फले विसंवादी।
कोपः सत्पुरुषाणां तुल्यः स्नेहेन नीचानाम् ॥ २८५ ॥

वह (प्रथम तो) होता नहीं, और होता है तो चिरकाल तक नहीं रहता और यदि चिरकाल तक रहता है तो इसका फल उलटा होता है; इस प्रकार सज्जनों का क्रोध नीचों के स्नेह के तुल्य होता है।

सहकारे चिरं स्थित्वा सलीलं बालकोकिल।
तं हित्वाद्यान्यवृक्षेषु विचरन्न विलज्जसे ॥ २८६ ॥

हे बाल कोकिल, बहुत दिनों तक आनंद-उल्लास के साथ आम के वृक्ष पर निवास करके, उसे छोड़कर आज तुम और वृक्षों पर विचरण करते लजाते नहीं ?

कलकण्ठं यथा शोभा सहकारे भवद्गिरः।
खदिरे वा पलाशे वा किं तथा स्याद्विचारय ॥ २८७ ॥ इति।

तुम्हारे सुंदर कंठ और मधुरीवाणी की जो शोभा आम्र वृक्ष पर थी; विचार करो कि क्या वैसी शोभा कत्थे अथवा ढाक के पेड़ पर हुई ?

ततः कालिदासः प्रभाते तं भूपालमापृच्छ्य मालवदेशमागत्य राज्ञः क्रीडोद्याने तस्थौ। ततो राजा च तत्रागतं ज्ञात्वा स्वयं गत्वा महता

परिवारेण तमानीय सम्मानितवान्। ततः क्रमेण विद्वन्मण्डले च समायाते सा भोजपरिषत्प्रागिव रेजे।

तब फिर प्रातः काल कालिदास ने वल्लाल भूपाल से अनुमति ली और मालव देश में आकर राजा की क्रीडावाटिका में ठहर गया। तब वहाँ उसे आया जान राजा अपने वड़े परिवार के साथ स्वयं जाकर उसे ले आया और उसका संमान किया। फिर धीरे-धीरे विद्वन्मंडली के आ जाने पर वह भोज की सभा पहिले की भाँति सुशोभित हो गयी।

—:०:—

(२४) काव्यक्रीडा

ततः सिंहासनमलङ्कुर्वाणं भोजं द्वारपाल आगत्य प्रणम्याह—'देव, कोऽपि विद्वाञ्जालन्धरदेशादागत्य द्वार्यास्ते' इति। राजा—'प्रवेशय' इत्याह। स च विद्वानागत्य सभायां तथाविधं राजानं जगन्मान्यान्कालिदासादीन्कविपुङ्गवान्वीक्ष्य बद्धजिह्व इवाजायत। सभायां किमपि तस्य मुखान्न निःसरति। तदा राज्ञोक्तम्—'विद्वन्, किमपि पठ' इति।

तत्पश्चात् सिंहासन को सुशोभित करते भोज से द्वारपाल आकर और प्रणाम करके बोला—'महाराज, जालंधर देश से एक विद्वान् आकर द्वार पर उपस्थित है।' राजा ने कहा—'प्रविष्ट कराओ।' वह विद्वान् सभा में आया और उस प्रकार के राजा और जगन्मान्य कालिदास आदि कवि श्रेष्ठों को देख मानो उसकी जीभ ही बँध गयी। सभा में उसके मुँह से कुछ निकला ही नहीं। तो राजा ने कहा—'हे पंडित, कुछ पढ़ो।'

स आह—

आरनालगलदाहशङ्कया मन्मुखादपगता सरस्वती।
तेन वैरिकमलाकचग्रहव्यग्रहस्त न कवित्वमस्ति मे॥ २८८॥

राजा तस्मै महिषीशतं ददौ।

वह बोला—तीखी-खट्टी, पतली लपसी पीने से गला जल जाने की आशंका से सरस्वती मेरे मुख से निकल गयीं; हे शत्रु-लक्ष्मी के केश-ग्रह में व्यग्र हाथों वाले महाराज, इस कारण मुझ में कवित्व नहीं रहा।

राजा ने सौ भैंसें दीं।

अन्यदा राजा कौतुकाकुलः सीतां प्राह—'देवि, सुरतं पठ' इति।
सीता प्राह—

सुरताय नमस्तस्मै जगदानन्दहेतवे।
आनुषङ्गि फलं यस्य भोजराज भवादृशाम् ॥ २८९ ॥

ततस्तुष्टो राजा तस्यै हारं ददौ।

किसी दूसरी बार कौतुक में भर कर राजा ने सीता से कहा—'देवि, सुरत का वर्णन करो।' सीता ने कहा—

जगदानंदसुहेतु सुरत को नमस्कार है,
जिसके गौणफल भोज, आप जैसे जनमें हैं।

(जगत् के आनंद के कारण स्वरूप सुरत को नमस्कार है, जिसका गौण फल है भोजराज, आप जैसों की उत्पत्ति है।)

तुष्ट होकर राजा ने उसे हार दे दिया।

ततो राजा चामरग्राहिणीं वेश्यामवलोक्य कालिदासं प्राह—'सुकवे, वेश्यामेनां वर्णय' इति। तामवलोक्य कालिदासः प्राह—

'कचभारात्कुचभारः कुचभाराद्भीतिमेति कचभारः।
कचकुचभाराज्जघनं कोऽयं चन्द्रानने चमत्कारः' ॥ २९० ॥

तत्पश्चात् चँवर डुलाने वाली वेश्या को देखकर राजा ने कालिदास से कहा—'हे सुकवि, इस वेश्या का वर्णन करो।' उसे देख कालिदास ने कहा—

केशों के बोझ से स्तनों का भार और स्तन भार से केशों का भार डर रहा है और केश और कुच—इन दोनों के भार से जघन स्थल डर रहा है; हे चंद्रमुखी, यह कैसा चमत्कार है।

भोजस्तुष्टः सन्स्वयमपि पठति—

'वदनात्पदयुगलीयं वचनादधरश्च दन्तपङ्क्तिश्च।
कचतः कुचयुगलीयं लोचनयुगलं च मध्यतस्त्रसति' ॥ २९१ ॥

संतुष्ट होकर भोज ने स्वयं भी पढ़ा:—

मुख से दोनों पैर और वचन से ओठ और दाँत डर रहे हैं और केशों से दोनों कुच; और मध्य भाग (कमर) से दोनों नेत्र डर रहे हैं।

—:o:—

(२५) अदृष्टपरहृदयबोद्धा कालिदासः

अन्यदा भोजो राजा धारानगरे एकाकी विचरन्कस्यचिद्विप्रवरस्य गृहं गत्वा तत्र काञ्चन पतिव्रतां स्वाङ्के शयानं भर्तारमुद्वहन्तीमपश्यत्। ततस्तस्याः शिशुः सुप्तोत्थितो ज्वालायाः समीपमगच्छत्। इयं च पतिधर्मपरायणा स्वपतिं नोत्थापयामास। ततः शिशुं च वह्नौ पतन्तं नागृह्णात्। राजा चाश्चर्यमालोक्यातिष्ठत्।

दूसरी बार धारा नगर में राजा अकेले विचरण करते हुए किसी ब्राह्मण श्रेष्ठ के घर पहुँच गया; वहाँ उसने एक पतिव्रता नारी को अपनी गोद में सिर धर सोये स्वामी को लिये हुए देखा। तभी उसका छोटा बच्चा सोते से जाग कर जलती आग के पास जा पहुँचा। उस पतिधर्म परायणा (पति-सेवा में लगी) ने अपने पति को (गोद से) नहीं हटाया। आग में गिरते बच्चे को भी नहीं पकड़ा। राजा यह अनोखी बात देखकर रुक गया।

ततः सा पतिधर्मपरायणा वैश्वानरमप्रार्थयत—'यज्ञेश्वर ! त्वं सर्वकर्मसाक्षी सर्वधर्मज्ञोऽसि। मां पतिधर्मपराधीनां शिशुमगृह्णन्तीं च जानासि। ततो मदीयशिशुमनुगृह्य त्वं मा दह' इति। ततः शिशुर्यज्ञेश्वरं प्रविश्य तं च हस्तेन गृहीत्वार्धघटिकापर्यन्तं तत्रैवातिष्ठत्।

तब उस पति धर्म का पालन करती नारी ने अग्नि देव से प्रार्थना की—'हे यज्ञ के स्वामी, सब कर्मों के देखने वाले आप सब धर्मों के ज्ञाता हैं। पति धर्म का पालन करने से पराधीन हुई मैं अपने बच्चे को नहीं पकड़ पा रही हूँ—यह भी जानते हैं। तो मेरे बच्चे पर अनुग्रह करके आप इसे न जलायें।' तो वह बच्चा अग्नि में प्रविष्ट होकर और उसे हाथ से पकड़ कर घड़ी भर वहीं रहा।

ततो नारोदीत्प्रसन्नमुखश्च शिशुः, सा च ध्यानारूढातिष्ठत्। ततो यदृच्छया समुत्थिते भर्तरि सा झटिति शिशुं जग्राह च परं धर्ममालोक्य विस्मयाविष्टो नृपतिराह—'अहो, मम समं भाग्यं कस्यास्ति, यदीदृश्यः पुण्यस्त्रियोऽपि मन्नगरे वसन्ति' इति।

तो वह बच्चा रोया नहीं और प्रसन्न मुख रहा और वह स्त्री ध्यान में लीन रही। तदनंतर स्वेच्छया स्वामी के जाग उठने पर उसने झट से बच्चे को ले लिया। धर्म की उस परमता को देख आश्चर्य में पड़े नरपति ने कहा—'अरे, मेरे जैसा भाग्य किसका है कि ऐसी पुण्यस्त्रियाँ मेरे नगर में निवास करती हैं!'

ततः प्रातः सभायामागत्य सिंहासन उपविष्टो राजा कालिदासं प्राह—'सुकवे, महदाश्चर्यं मया पूर्वेद्यू रात्रौ दृष्टमस्ति' इत्युक्त्वा राजा पठति—'हुताशनश्चन्दनपङ्कशीतलः'।

तत्पश्चात् प्रातः काल सभा में आकर सिंहासन पर बैठे राजा ने कालिदास से कहा—'हे सुकवि, बीती रात मैंने एक बड़ा आश्चर्य देखा है;' यह कहकर राजा ने पढ़ा—'चंदन-लेप-समान सुशीतल आग हो गयी।'

कालिदासस्ततश्चरणत्रयं झटिति पठति—

'सुतं पतन्तं प्रसमीक्ष्य पावके न बोधयामास पतिं पतिव्रता।
तदाभवत्तत्पतिभक्तिगौरवाद्धुताशनश्चन्दनपङ्कशीतलः' ॥ २६२ ॥

राजा च स्वाभिप्रायमालोक्य विस्मितस्तमालिङ्ग्य पादयोः पतति स्म।

तो कालिदास ने झट से श्लोक के शेष तीन चरण पढ़ दिये—

बच्चा गिरता देख आग में पतिव्रता ने पति को नहीं जगाया।
रखने को पति-भक्ति-मान चंदन-लेप समान सुशीतल आग हो गयी।

और अपना अभिप्राय पूर्ण देख राजा ने विस्मित हो उसका आलिंगन किया और चरणों में गिर पड़ा।

एकदा ग्रीष्मकाले राजान्तःपुरे विचरन्धर्मतापतप्त आलिङ्गनादिकमकुर्वंस्ताभिः सह सरससंलापाद्युपचारमनुभूय तत्रैव सुप्तः। ततः प्रातरुत्थाय राजा सभां प्रविष्टः कुतूहलात्पठति—

'मरुदागमवार्तयापि शून्ये समये जाग्रति सम्प्रवृद्ध एव।'

एक वार ग्रीष्म ऋतु में राजा रनिवास में विचर रहा था; ग्रीष्म ऋतु की धूप के ताप से तप्त होने के कारण आलिंगन-आदि न करके वह रानियों से रस पूर्ण वार्तालाप आदि में आनन्द उठाता वहीं सो गया। फिर प्रातःकाल उठकर सभा में पहुँच कर राजा ने कुतूहल के कारण पढ़ा—

जब हवा बहने की बात तक नहीं थी, ऐसे समय में भी बढ़ाया ही।

भवभूतिराह—

'उरगी शिशवे बुभुक्षवे स्वासदिशत्फूत्कृतिमानानिलेन।
मरुदागमवार्तयापि शून्ये समये जाग्रति सम्प्रवृद्ध एव' ॥ २६३ ॥

राजा प्राह—'भवभूते, लोकोक्तिः सम्यगुक्ता' इति।

भवभूति ने कहा—

नागिन ने भूखे बच्चे को मुँह की श्वास-वायु से अपनी फुंकारी दी। जब हवा बहने की बात तक नहीं थी, ऐसे समय में भी बढ़ाया ही। (अर्थात् वायु-पान कराके अपने बच्चे का पालन-पोषण किया)।

राजाने कहा—'हे भवभूति, आपने अच्छी लोकोक्ति कही।'

ततोऽपाङ्गेन राजा कालिदासं पश्यति। ततः स आह—

'अबलासु विलासिनोऽन्वभूवन्नयनैरेव नवोपगूहनानि।
मरुदागमवार्तयापि शून्ये समये जाग्रति सम्प्रवृद्ध एव' ॥ २६४ ॥

तदा राजा स्वाभिप्रायं ज्ञात्वा तुष्टः कालिदासं विशेषेण सम्मानितवान्।

तब फिर राजा ने कनखी से कालिदास को संकेत दिया। तो उसने कहा—

विलासी व्यक्तियों ने नेत्रों से ही नारियों में नवीन आलिंगन का अनुभव किया। जब हवा बहने की बात तक नहीं थी, ऐसे समय में भी बढ़ाया ही। (अर्थात् आनंद-वृद्धि की।)

तो राजा अपना अभिप्राय समझ कर संतुष्ट हुआ और कालिदास को विशेष रूप से संमानित किया।

अन्यदा मृगयापरवशो राजात्यन्तमार्तः कस्यचित्सरोवरस्य तीरे निविडच्छायस्य जम्बूवृक्षस्य मूलमुपाविशत्। तत्र शयाने राज्ञि जम्बोरुपरि बहुभिः कपिभिर्जम्बूफलानि सर्वाण्यपि चालितानि। तानि सशब्दं पतितानि पश्यन्घटिकामात्रं स्थित्वा श्रमं परिहृत्य उत्थाय तुरङ्गमवरमारुह्य गतः।

एक और बार आखेट में लीन हो राजा अत्यंत थक कर किसी तालाब के किनारे घनी छायादार जामुन के पेड़ के नीचे बैठा था। वहाँ लेटे राजा पर जामुन के ऊपर के बहुत-से बंदरों ने सभी जामुनें झाड़ डालीं। एक घड़ी

तक उन जामुनों को 'गुड़ुप्-गुड़ुप्' करके गिरती देखता राजा थकावट बीत जाने पर उठकर घोड़े पर चढ़ चला गया।

ततः सभायां राजा पूर्वानुभूतकपिचलितफलपतनरवमनुकुर्वन्समस्यामाह—'गुलुगुग्गुलुगुग्गुलु'।
तत आह कालिदासः—

'जम्बूफलानि पक्कानि पतन्ति विमले जले।
कपिकम्पितशाखाभ्यो गुलुगुग्गुलुगुग्गुलु' ॥ २६५ ॥

तो सभा में पहिले अनुभूत बंदरों द्वारा झाड़ी जाने से हुए जामुनों के गिरने के ('गुड़ुप्-गुड़ुप्') शब्द का अनुकरण करते हुए राजा ने एक समस्या कही—'गुलुगुग्गुलुगुग्गलु'। तो कालिदास ने कहा—

वानरदल के द्वारा कंपित शाखाओं से निर्मल जल में—पके हुए गिरते जंबूफल 'गुलु गुग्गुलु-गुग्गुलुगुग्गुलु।'

राजा तुष्ट आह—'सुकवे, अदृष्टमपि परहृदयं कथं जानासि। साक्षाच्छारदासि' इति मुहुर्मुहुः पादयोः पतति स्म।

संतुष्ट हो राजा ने कहा—'हे सुकवि, तुम अनदेखे भी दूसरे के हृदय को कैसे जान लेते हो? तुम साक्षात् शारदा हो,' और पैरों पर गिर पड़ा।

एकदा धारानगरे प्रच्छन्नवेषो विचरन्कस्यचिद्वृद्धब्राह्मणस्य गृहं राजा मध्याह्नसमये गच्छंस्तत्र तिष्ठति स्म। तदा वृद्धविप्रो वैश्वदेवं कृत्वा काकबलिं गृह्णन्गृहान्निर्गत्य भूमौ जलशुद्धायां निक्षिप्य काकमाह्वयति स्म। तत्र हस्तविस्फालनेन हाहेतिशब्देन च काकाः समायाताः। तत्र कश्चित्काकस्तारं रारटीति स्म। तच्छ्रुत्वा तत्पत्नी तरुणी भीतेव हस्तं निजोरसि निधाय 'अये मातः' इति चक्रन्द।

एक बार धारा नगर में गुप्त वेष में विचरण करता हुआ राजा किसी ब्राह्मण के घर में दोपहरी के समय जाते हुए ठहरा हुआ था। उस समय बूढ़ा ब्राह्मण 'वैश्वदेव' (देवताओं के निमित्त प्रातः सायम्, विशेपतः मध्याह्न समर्पित खाद्य सामग्री—वलिवैश्वदेव कर्म) करके कौओं के निमित्त वलि लेकर घर से निकला और (वलि को) जल से स्वच्छ की गई भूमि पर रखकर कौए को बुलाने लगा। तालियाँ वजाने और

'हाउ-हाउ' शब्द करने से वहाँ कौए आ गये। उनमें एक कौआ बड़े जोर से 'काँव-काँव' करने लगा। उसे सुन बूढ़े ब्राह्मण की तरुणी पत्नी जैसे डर कर हाथ को अपनी छाती पर रख चिल्ला पड़ी—'हाय मैया।'

ततो ब्राह्मणः प्राह—'प्रिये साधुशीले, किमर्थं बिभेषि' इति। सा प्राह—'नाथ! मादृशीनां पतिव्रतास्त्रीणां कर्कशध्वनिश्रवणं न सह्यम्।' 'साधुशीले, तथा भवेदेव' इति विप्र आह।

तो ब्राह्मण बोला—'भली-भोली प्यारी, क्यों डर रही हो?' वह बोली—'स्वामी, मुझ जैसी पतिव्रता स्त्रियों से कर्कश शब्द सुनना सहा नहीं जाता।' ब्राह्मण ने कहा—'हे सुचरिते, ऐसा तो होता ही रहता है।'

ततो राजा तच्चरितं सर्वं दृष्ट्वा व्यचिन्तयत्—'अहो, इयं तरुणी दुःशीला नूनम्। यतो निर्व्याजं बिभेति। स्वपातिव्रत्यं स्वयमेव कीर्तयति च। नूनमियं निर्भीका सती अत्यन्तं दारुणं कर्म रात्रौ करोत्येव। एवं निश्चित्य राजा तत्रैव रात्रावन्तर्हित एवातिष्ठत्।

तो उसका सारा आचरण देख कर राजा ने विचारा—'अरे, निश्चय ही यह तरुणी दुष्ट चरित्र की है; क्योंकि अकारण ही डर रही है और अपने पातिव्रत का स्वयम् ही कीर्तन कर रही है। निश्चय ही यह निर्भय होकर रात में अत्यंत कठोर कर्म करती ही होगी।' ऐसा निश्चय करके राजा वहीं रात को छिप कर रह गया।

अथ निशीथे भर्तरि सुप्ते सा मांसपेटिकां वेश्याकरेण वाहयित्वा नर्मदातीरमगच्छत्। राजाप्यात्मानं गोपयित्वानुगच्छति स्म। ततः सा नर्मदां प्राप्य तत्र समागतानां ग्राहाणां मांसं दत्त्वा नदीं तीर्त्वा परतीरस्थेन शूलाग्रारोपितेन स्वमनोरमेण सह रमते स्म।

इसके बाद रात में पति के सो जाने पर वह मांस की पिटारी को एक वेश्या के हाथों उठवाकर नर्मदा के किनारे पहुँची। अपने को छिपाये राजा ने भी उसका पीछा किया। तदनंतर वह नर्मदा में पैठी और वहाँ आये मगर-मच्छों को मांस देकर नदी पार कर दूसरे किनारे पर स्थित सूली की नोक पर चढ़ाये गये अपने मनचीते पुरुष के साथ रमण करने लगी।

तच्चरित्रं दृष्ट्वा राजा गृहं समागत्य प्रातः सभायां कालिदासमालोक्य प्राह—'सुकवे, शृणु—

'दिवा काकरुताद्भीता'

ततः कालिदास आह—

'रात्रौ तरति नर्मदाम्' ।

ततस्तुष्टो राजा पुनः प्राह—

'तत्र सन्ति जले ग्राहाः'

ततः कविराह—

'मर्मज्ञा सैव सुन्दरी' ॥ २९६ ॥

ततो राजा कालिदासस्य पादयोः पतति ।

उसका चरित्र देख घर पहुँच कर राजाने सवरे सभा में कालिदास को देखकर कहा—'हे सुकवे, सुनो—

'डरती दिन में 'काँव-काँव' से'

तो कालिदासने कहा—

'तैर नर्मदा जाती रात ।'

तव संतुष्ट हो राजाने फिर कहा—

'पानी में हैं मगर वहां तो'

तो कवि ने कहा—

'मर्म सुंदरी को सव ज्ञात'

तो राजा कालिदास के पैरों-पड़ा ।

एकदा धारानगरे विचरन्वेश्यावीथ्यां राजा कन्दुकलीलातत्परां तद्भ्रमणवेगेन पादयोः पतितावतंसां काञ्चन सुन्दरीं दृष्ट्वा सभायामाह— 'कन्दुकं वर्णयन्तो कवयः' इति ।

एक वार धारानगर में वेश्या-गली में घूमते राजा ने कंदुकक्रीड़ा में लीन और उसके घूमने के वेग से जिसके कान का आभूपण पैरों पर गिर गया था, ऐसी, एक सुंदरी को देखकर सभा में कहा—'कविजन, कंदुक का वर्णन करें ।'

तदा भवभूतिराह—

'विदितं ननु कन्दुक ते हृदयं प्रमदाधरसङ्गमलुब्ध इव ।
वनिताकरतामरसाभिहतः पतितः पतितः पुनरुत्पतसि' ॥ २९७ ॥

तो भवभूति ने कहा—

हे कंदुक, तुम्हारे हृदय की भावना ज्ञात ही है—तुम सुंदरी के अधर का संगम करने के लोभी प्रतीत होते हो, इसी से सुंदरी के कर कमल से ताडित होने पर गिर-गिर कर पुनः पुनः उछलते हो ।

ततो वररुचिः प्राह—

एकोऽपि त्रय इव भाति कन्दुकोऽयं
कान्तायाः करतलरागरक्तरक्तः ।
भूमौ तच्चरणनखांशुगौरगौरः
स्वस्थः सन्नयनमरीचिनीलनीलः' ॥ २९८ ॥

तब वररुचि ने कहा—

सुंदरी की हथेली की लालिमा से लाल-लाल, धरती पर गिरा होने की अवस्था में उसके चरण-नखों के किरणजाल से शुभ्र और सामान्य स्थिति में आँखों की पुतलियों की नीलिमा से नीला-नीला—यह कंदुक एक होने पर भी तीन जैसा प्रतीत होता है ।

ततः कालिदास आह—

'पयोधराकारधरो हि कन्दुकः करेण रोषादभिहन्यते मुहुः ।
इतीव नेत्राकृतिभीतमुत्पलं स्त्रियः प्रसादाय पपात पादयो.' ॥ २९९ ॥

तब कालिदास ने कहा—

क्योंकि इस कंदुक ने सुंदरी के पयोधरों का आकार-धारण किया, अतएव बार-बार यह उस सुंदरी के कर-द्वारा रोष के कारण ताडित किया जाता है । इसी से यह नयनों के आकार से डरे कमल के समान कर्ण भूषण सुंदरी को प्रसन्न करने के निमित्त पैरो पर गिर पड़ा है ।

तदा राजा तुष्टस्त्रयाणामक्षरलक्षं ददौ । विशेषेण च कालिदासमदृष्टावतंसकुसुमपतनबोद्धारं सम्मानितवान् ।

तब राजा ने संतुष्ट होकर तीनों को प्रत्यक्षर पर लाख-लाख मुद्राएँ दीं ।

कालिदास को अनदेखे आभूषण कर्णफूल के पतन का ज्ञाता होने के कारण विशेष रूप से संमानित किया।

—:०:—

(२६) अदृष्टबोधय अन्याः कथाः

ततः कदाचिच्चित्रकर्मावलोकनतत्परो राजा चित्रलिखितं महाशेषं दृष्ट्वा 'सम्यग्लिखितम्' इत्यवदत्। तदा कश्चिच्छिवशर्मा नाम कविः शेषमिषेण राजानं स्तौति--

अनेके फणिनः सन्ति भेकभक्षणतत्पराः।
एक एव हि शेषोऽयं धरणीधरणक्षमः॥ २००॥

तदानीं राजा तदभिप्रायं ज्ञात्वा तस्मै लक्षं ददौ।

कभी चित्रकारी देखने में लगे राजाने चित्र में बने महाशेष नाग को देख कर कहा कि अच्छा चित्र बना है। तो किवी शिवशर्मा नामक कवि ने शेष-नाग के व्याज से राजा की स्तुति की--

मेढकों को खाने में लगे बहुत-से हैं धरती पर साँप।
किंतु धरणी-धारणा में शक्त एक ही शेषनाग फणिराज।

(मेंढकों को खाने में लगे रहने वाले तो अनेक सर्प हैं, परंतु धरती को धारने में समर्थ एक यह शेष नाग ही है।)

तब उसका अभिप्राय जान कर उस समय राजाने उसे एक लाख मुद्राएँ दीं।

कदाचिद्धेमन्तकाले समागते ज्वलन्तीं (?) हसन्तीं संसेवयन्राजा कालिदासं प्राह--'सुकवे, हसन्तीं वर्णय' इति। ततः सुकविराह--

'कविमतिरिव बहुलोहा सघटितचक्रा प्रभातवेलेव।
हरमूर्तिरिव हसन्ती भाति विधूमानलोपेता'॥ २०१॥

राजाक्षरलक्षं ददौ।

कभी हेमंत ऋतु के आ जाने पर जलती अँगीठी पर तापते हुए राजा ने कालिदास से कहा-'हे सुकवि, अँगीठी का वर्णन करो।' तब सुकवि ने कहा-

यह हंसती जैसे कवि की बुद्धि बहुलोहा (बहुल+ऊहा=अनेक प्रकार की कल्पना करने वाली) होती है, वैसे ही बहुलोहा (बहुत सा लोहा है

जिसमें) है; जैसे प्रभात काल सुघटित चक्र अर्थात् चकई-चकवा का संघटन (मिलाप) करने वाला होता है, वैसे ही सुघटितचक्रा अर्थात् भली चक्राकार (गोल) बनी है; और जिस प्रकार शिवजी की मूर्ति विधूमानल (विधु+ उमा+अनल) अर्थात् चंद्रमा, पार्वती और तृतीय नेत्र की ज्वाला से युक्त है उसी प्रकार विधूमानल अर्थात् धूमरहित अग्नि से सुशोभित है।

राजा ने अक्षर-अक्षर पर लाख-लाख मुद्राएँ दीं।

एकदा भोजराजोऽन्तर्गृहे भोगार्हास्तुल्यगुणाश्चतस्रो निजाङ्गना अपश्यत्। तासु च कुन्तलेश्वरपुत्र्यां पद्मावत्यामृतुस्नानम्, अङ्गराजस्य पुत्र्यां चन्द्रमुख्यां क्रमप्राप्तिम्, कमलानाम्न्यां च द्यूतपणजयलब्धप्राप्तिम्, अग्रमहिष्यां च लीलादेव्यां दूतीप्रेषणमुखेनाह्वानं च, एवं चतुरो गुणान्दृष्ट्वा तेषु गुणेषु न्यूनाधिकभावं राजाप्यचिन्तयत्। तत्र सर्वत्र दाक्षिण्यनिधी राज-राजः श्रीभोजस्तुल्यभावेन द्वित्रिघटिकापर्यन्तं विचिन्त्य विशेषानवधारणेन निद्रां गतः। प्रातश्चोत्थाय कृताह्निकः सभामगात्।

एक बार भोजराज ने अंतः पुर में संभोग योग्य, समान गुणों वाली अपनी चार पत्नियों को देखा। उनमें कुंतलाधिपति की पुत्री पद्मावती मासिक ऋतु—स्नानकर चुकी थी, अंगराज की बेटी चंद्रमुखी की नियत पारी थी, कमला नाम की रानी ने जुए की बाजी में राजा को जीतकर उपलब्ध किया था। और पट्टरानी लीलादेवी ने दूती भेजकर स्वयम् उन्हें आमंत्रित किया था। इस प्रकार इन चारों योग्यता के आधारों को देखकर उन गुणा धारों में कौन छोटा है, कौन बड़ा—यह राजा विचार करने लगा। सब में दक्षिणता रखनेवाला 'दक्षिणनायक' (तुल्यानुरागी) राजराजेश्वर श्री भोज समान भाव से दो-तीन घड़ी तक विचार करके भी किसी विशिष्टता की अवधारणा न करने के कारण सो गया। और सुबह उठकर दैनिक कार्य करके सभा में पहुँचा।

तत्र च सिंहासनमलङ्कुर्वाणः श्रीभोजः सकलविद्वत्कविमण्डलमण्डनं कालिदासमालोक्य 'सुकवे, इमां त्र्यक्षरोनतुरीयचरणां समस्यां शृणु।' इत्युक्त्वा पठति—'अप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थिता नाडिकाः।' इति पठित्वा राजा कालिदासमाह—'सुकवे, एतत्समस्यापूरणं कुरु' इति।

वहाँ सिंहासन को सुशोभित करते श्री भोज ने समस्त विद्वानों और कवियों की मंडली के श्रृंगार कालिदास को देखकर कहा—'सुकवे, तीन अक्षर कम चतुर्थ चरण वाली इस 'समस्या' को सुनो' और पढ़ा—'किंकर्तव्य विमूढ़ बिता दीं, घड़ियाँ दो-तीन।' यह पढ़कर राजा ने कालिदास से कहा—'हे सुकवि, इस समस्या की पूर्ति करो।'

ततः कालिदासस्तस्य हृदयं करतलामलकवत्प्रपश्यंस्त्रयक्षराधिक-चरणत्रयविशिष्टां तां समस्यां पठति—देव,

स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता वारोऽङ्गराजस्वसु-
र्द्यूते रात्रिरियं जिता कमलया देवी प्रसाद्याधुना।
इत्यन्तःपुरसुन्दरीजनगुणे न्यायाधिकं ध्यायता
देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थिता नाडिकाः॥ ३०२॥

तदा राजा स्वहृदयमेव ज्ञातवतः कालिदासस्य पादयोः पतति स्म। कविमण्डलं च चमत्कृतमजायत।

तब राजा के हृदय को हथेली पर रखे आँवले के सदृश-देखते कालिदास ने शेष तीन चरण और (चतुर्थ चरण के शेष) तीन अक्षरों से विशिष्ट उस समस्या को पढ़ा—

कुंतलराजसुता ऋतुस्नाता, अंगराजदुहिता का वार;
कमला जीती रात द्यूत में, 'देवी' की करनी मनुहार;
अंतःपुर की सुंदरियों के गुण-परिवीक्षण में हो लीन—
किं कर्तव्य विमूढ़ बिता दीं राजा ने घड़ियाँ दो-तीन।

तब राजा अपने मन को ही जान लेने वाले कालिदास के पैरों पड़ा और कवि मंडली चमत्कृत हो गयी।

एकदा राजा धारानगरे विचरन्क्वचित्पूर्णकुम्भं धृत्वा समायान्तीं पूर्णचन्द्राननां काञ्चिद्दृष्ट्वा तत्कुम्भजले शब्दं च कञ्चन श्रुत्वा 'नूनमेव तस्याः कण्ठग्रहेऽयं घटो रतिकूजितमिव कूजित' इति मन्यमानः सभायां कालिदासं प्राह—'कूजितं रतिकूजितम्' इति।

एक बार धारा नगर में विचरण करते राजा भोज ने किसी स्थान पर भरे घड़े को लेकर आती एक पूर्ण चंद्रमा के समान मुखवाली स्त्री को देखा

और उस घड़े में जल में उत्पन्न होती ध्वनि को सुनकर यह मान लिया कि सुंदरी के द्वारा पकड़ कर लिये जाते (इस प्रकार आलिंगित) इस घटकी इस ध्वनि रति-समय सुंदरी के द्वारा किये जाते कूजन शब्द के समान है और सभा में जाकर कालिदास ने कहा—'कूजित रति कूजित है।'

कविराह—

'विदग्धे सुमुखे रक्ते नितम्बोपरि संस्थिते।
कामिन्याश्लिष्टसुगले कूजितं रतिकूजितम्' ॥ २०२ ॥

तदा तुष्टो राजा प्रत्यक्षरलक्षं ददौ; ननाम च।

कवि ने कहा—खूब पके, सुंदर मुँहवाले, लाल, कमर पर रखे हुए;
गले लगे कामिनि के घट का यह कूजित रति कूजित है ॥

तब संतुष्ट होकर राजा ने प्रत्यक्षर लक्ष मुद्राएँ दीं और प्रणाम किया।

एकदा नर्मदायां महाह्रदे जालकैरेकः शिलाखण्ड ईषद्भ्रष्टाक्षरः कश्चिद्दृष्टः। तैश्च परिचिन्तितम्—'इदमत्र लिखितमिव किञ्चिद्भाति। नूनमिदं राजनिकटं नेयम्' इति बुद्ध्या भोजसदसि समानीतम्।

एक बार नर्मदा की गहरी जलराशि में जाल डालने वाले मछेरों ने घिसे-मिटे अक्षरों वाला एक शिला का खंड देखा। उन्होंने सोचा—'यह इस पर कुछ लिखा-सा प्रतीत होता है। निश्चय ही इसे राजा के पास ले जाना उचित है।' ऐसा निश्चय करके वह शिलाखंड भोज की सभा में ले आये।

तदाकर्ण्य भोजः प्राह—'पूर्वं भगवता हनूमता श्रीमद्रामायणं कृतम्। तदत्र ह्रदे प्रक्षेपितमिति श्रुतमस्ति। ततः किमिदं लिखितमित्यवश्यं विचार्यमिति लिपिज्ञानं कार्यम्।'

मछेरों की बात सुनकर भोज ने कहा—'प्राचीन काल में भगवान् हनुमान ने श्रीमद् रामायण की रचना की थी। ऐसा सुना गया है कि उसे उन्होंने यहीं जल राशि में फेंक दिया था। सो यह क्या लिखा है, इस पर अवश्य विचार होना चाहिए और एतदर्थ इसकी लिपि की जानकारी करानी चाहिए।'

जतुपरीक्षयाक्षराणि परिज्ञाय पठति। तत्र चरणद्वयमानुपूर्व्याल्लब्धम्-

'अयि खलु विषमः पुराकृतानां भवति हि जन्तुषु कर्मणां विपाकः'

ततः भोजः प्राह-'एतस्य पूर्वार्धं कथ्यताम्' इति।

चपड़े (लाख) की विधि द्वारा परीक्षा करके अक्षरों के ज्ञात होने पर पढ़ा उसमें दो चरण अनुक्रम से मिले—

मिलता है कैसा दारुण फल प्राणियों को,
पहिले कभी किये गये हाय, कर्मजाल का !

तब भोज ने कहा—'इसका पूर्वार्ध कहें।'

तदा भवभूतिराह—

क नु कुलमकलङ्कमायताक्ष्याः।
क नु रजनीचरसङ्गमापवादः।
अयि खलु विषमः पुराकृतानां
भवति हि जन्तुषु कर्मणां विपाकः' ॥ ३०४ ॥

तब भवभूति ने कहा—

कहाँ तो निष्कलंक कुल विशाल नयना का,
कहाँ मिला अपवाद निशाचर के संग का;
मिलता है कैसा दारुण फल प्राणियों को,
पहिले कभी किये गये, हाय, कर्मजाल का !

ततो भोजस्तत्र ध्वनिदोषं मन्वानस्तदेव पूर्वार्धमन्यथा पठति स्म—

'क जनकतनया क रामजाया क च दशकन्धरमन्दिरे निवासः।
अयि खलु विषमः पुराकृतानां भवति हि जन्तुषु कर्मणां विपाकः' ॥

तो भोज ने उसमें ध्वनि दोप मान कर उस पूर्वार्ध को दूसरे प्रकार से पढ़ा—

कहाँ जनक तनया और राम की पत्नी कहाँ,
और कहाँ रहना दशकंधर के महल का !
मिलता है कैसा दारुण फल प्राणियों को,
पहिले कभी किये गये हाय, कर्मजाल का !

ततो भोजः कालिदासं प्राह—'सुकवे, त्वमपि कविहृदयं पठ' इति।

स आह—

'शिवशिरसि शिरांसि यानि रेजुः शिव शिव तानि लुठन्ति गृध्रपादे ।
अयि खलु विषमः पुराकृतानां भवति हि जन्तुषु कर्मणां विपाकः' ॥२०६॥

तब भोज ने कालिदास से कहा—'सुकवे, तुम भी (रामायण के) कवि के हृदय का भाव पढ़ो ।' कालिदास ने कहा—

जो सिर सुशोभित थे शिवजी के मस्तक पर
शिव-शिव, गृध्र-चरणों में लुठित होना उनका !
मिलता है कैसा दारुण फल प्राणियों को
पहिले कभी किये गये हाय, कर्मजाल का !

ततस्तस्य शिलाखण्डस्य पूर्वपुटे जतुशोधनेन कालिदासपठितं तमेव दृष्ट्वा राजा भृशं तुतोष ।

तदनंतर उस शिला खंड के पहिले भाग में जतु शोधन क्रिया के द्वारा कालिदास के पढ़े गये ही पदों को देखकर राजा अत्यंत संतुष्ट हुआ ।

—:o:—

(२७) ब्रह्मराक्षसनिवारणम्

कदाचिद्भोजेन विलासार्थं नूतनगृहान्तरं निर्मितम् । तत्र गृहान्तरे गृहप्रवेशात्पूर्वमेकः कश्चिद्ब्रह्मराक्षसः प्रविष्टः । स च रात्रौ तत्र ये वसन्ति तान्भक्षयति । ततो मान्त्रिकान्समाहूय तदुच्चाटनाय राजा यतते स्म । स चाऽगच्छन्नेव मान्त्रिकानेव भक्षयति । किंच स्वयं काव्यादिकं पूर्वाभ्यस्तमेव पठन्तिष्ठति । एवं स्थिते तत्रैव रक्षसि राजा 'कथमस्य निवृत्तिः' इति व्यचिन्तयत् ।

एक समय भोज ने आनंद-विलास के लिए एक और नया घर बनवाया । उस दूसरे घर में गृह प्रवेश से पहिले ही एक ब्रह्मराक्षस प्रविष्ट हो गया । रात में जो वहाँ रहते थे, वह उन्हें खा जाता था । तो राजा ने मंत्रवेत्ताओं को बुलाकर उसे भगाने का प्रयत्न किया; किंतु ब्रह्म राक्षस वहाँ से न जाकर मांत्रिकों को ही खा जाता और इसके अतिरिक्त राक्षस होने से पहिले की स्थिति में अभ्यस्त काव्य आदि का पाठ करता हुआ जमा रहता । राक्षस के

उस प्रकार वहीं जमे रहने पर राजा चिंता करने लगा कि इससे कैसे छुटकारा मिले ?

तदा कालिदासः प्राह—'देव, नूनमयं राक्षसः सकलशास्त्रप्रवीणः सुकविश्च भाति। अतस्तमेव तोषयित्वा कार्यं साधयामि। मान्त्रिकास्तिष्ठन्तु। मम मन्त्रं पश्य' इत्युक्त्वा स्वयं तत्र रात्रौ गत्वा शेते स्म।

तो कालिदास ने कहा—'महाराज, यह राक्षस निश्चय ही संपूर्ण शास्त्रों का विज्ञाता और सुकवि प्रतीत होता है। इसलिए उसको प्रसन्न करके ही कार्य सिद्ध करूँगा। मंत्रवेत्ता ठहरें, आप मेरा मंत्र देखिए।' ऐसा कह रात में वहाँ जाकर स्वयं सो गया।

प्रथमयामे ब्रह्मराक्षसः समागतः स चापूर्वं पुरुषं दृष्ट्वा प्रतियाममेकैकां समस्यां पाणिनिसूत्रमेव पठति। येनोत्तरं तद्धृदयगतं नोक्तम्, 'अयं न ब्राह्मणः, अतो हन्तव्यः' इति निश्चित्य हन्ति। तदानीमपि पूर्ववदयमपूर्वः पुरुषः। अतो मया समस्या पठनीया। न चेद्वक्ति सदृशमुत्तरं तस्यास्तदा हन्तव्य इति। बुद्ध्या पठति—

'सर्वस्य द्वे' इति।

पहिले पहर में ब्रह्म राक्षस आया करता था और नये पुरुष को देखकर प्रत्येक पहर में एक-एक समस्या के रूप में पाणिनि का सूत्र ही पढ़ा करता था। जो उसका मनचीता उत्तर न देता, यह विचार कर कि 'यह ब्राह्मण नहीं हैं, इसे मार डालना चाहिए,' उसे मार डालता। 'नया पुरुष आया है, इसलिए मुझे समस्या पढ़नी चाहिए। यदि ठीक उत्तर न दे तो मार डालना चाहिए'—कालिदास के वहाँ होने पर भी यही विचार कर उसने पढ़ा—

'सब के दो'—

तदा कालिदासः प्राह—

'सुमतिकुमती सम्पदापत्तिहेतू'

इति। ततः स गतः।

तो कालिदास ने कहा—

'कारण संपद्-विपद् की सुमति-कुमति ही सदा हुआ करती हैं।' तो वह चला गया।

पुनरपि द्वितीययामे समागत्य पठति—

'वृद्धो यूना' इति।

फिर दूसरे पहर में आकर उसने पढ़ा—

'बूढ़े को युवक'—

दा कविराह—

'सहपरिचयात्त्यज्यते कामिनीभिः। इति।

तो कवि ने कहा—

'से परिचय हो जाने पर कामिनियाँ सदा छोड़ दिया करती हैं।'

तृतीययामे स राक्षसः पुनः समागत्य पठति—

'एको गोत्रे' इति।

तीसरे पहर में उस राक्षस ने फिर आकर पढ़ा—

'एक ही गोत्र में'—

ततः कविराह—

'प्रभवति पुमान्यः कुटुम्बं बिभर्ति' इति।

तो कवि ने कहा—

'पुरुष ऐसा होता है, जिससे कुटुंब का पालन हुआ करता है।'

ततश्चतुर्थयाम आगत्य स राक्षसः पठति—

'स्त्री पुंवच्च' इति।

तत्पश्चात् चौथे पहर में आकर उस राक्षस ने पढ़ा—

'स्त्री पुरुषतुल्य'—

ततः कविराह—

'प्रभवति यदा तद्धि गेहं विनष्टम्' ॥ २०७ ॥ इति।

तो कवि ने कहा—

'जिस घर में हो जाती, वह घर विनाश को प्राप्त हुआ करता है।'

ततः स राक्षसो यामचतुष्टयेऽपि स्वाभिप्रायमेव ज्ञात्वा तुष्टः प्रभातसमय समागत्य तमाश्लिष्य प्राह—'सुमते, तुष्टोऽस्मि। किं तवाभीष्टम्' इति। कालिदासः प्राह—'भगवन्, एतद्गृहं विहायान्यत्र गन्तव्यम्' इति। सोऽपि तथा' इति गतः। अनन्तरं तुष्टो भोजः कविं बहु मानितवान्।

तो वह राक्षस चारों ही पहरों में अपना मनचीता भाव जानकर संतुष्ट हुआ और प्रभात काल में आकर कालिदास का आलिंगन करके बोला—'हे सुबुद्धि शाली, मैं संतुष्ट हूँ। तुम्हारा अभीष्ट क्या है?' कालिदास ने कहा—'भगवन्, इस घर को छोड़कर और स्थान पर चले जाइए।' वह भी 'ठीक' है, यह कह चला गया। इसके बाद संतुष्ट भोज ने कवि का बहुत संमान किया।

—:०:—

(२८) मल्लिनाथस्य दारिद्र्यनिवारणम्

एकदा सिंहासनमलङ्कुर्वाणे श्रीभोजे सकलभूपालशिरोमणौ द्वारपाल आगत्य प्राह—'देव, दक्षिणदेशात्कोऽपि मल्लिनाथनामा कविः कौपीनावशेषो द्वारि वर्तते। राजा—'प्रवेशय' इत्याह।

एक बार समस्त पृथ्वी-पतियों के शिर की मणि के समान (श्रेष्ठ) श्री भोज के सिंहासन को सुशोभित करने पर द्वारपाल आकर बोला—'महाराज, दक्षिण देश से आया कोई कौपीन मात्र धारी मल्लिनाथ नामक कवि द्वार पर उपस्थित है।' राजा ने कहा—'प्रवेश दो।'

ततः कविरागत्य 'स्वस्ति' इत्युक्त्वा तदाज्ञया चोपविष्टः पठति—

'नागो भाति मदेन खं जलधरैः पूर्णेन्दुना शर्वरी
शीलेन प्रमदा जवेन तुरगा नित्योत्सवैर्मन्दिरम्।
वाणी व्याकरणेन हंसमिथुनैर्नद्यः सभा पण्डितैः
सत्पुत्रेण कुलं त्वया वसुमती लोकत्रयं भानुना' ॥३०८॥

तब कवि ने आकर 'कल्याण हो' कहा और राजा की आज्ञा से बैठ कर पढ़ा—

मद से हाथी शोभित होता है, आकाश जलधर बादलों से, रात्रि पूर्ण चंद्र से, नारी शील से, घोड़ा वेग से, मंदिर प्रतिदिन के उत्सवों से, वाणी व्याकरण से, नदियाँ हंसों के जोड़ों से, सभा पंडितों से, कुल सपूत से, धरती आपसे और तीनों लोक सूर्य से शोभित होते हैं।

ततो राजा प्राह—'विद्वन्, तवोद्देश्यं किम्' इति।

तब राजा ने कहा—'हे विद्वान्, तुम्हारा उद्देश्य क्या है?'

ततः कविराह—

'अम्बा कुप्यति न मया न स्नुषया सापि नाम्बया न मया।
अहमपि न तया न तया वद राजन्कस्य दोषोऽयम्' ॥३०९॥

इति। राजा च दारिद्र्यदोषं ज्ञात्वा कविं पूर्णमनोरथं चक्रे।

तब कवि ने कहा—

माँ क्रोध करती है, पर न मुझ पर न अपनी पतोहू (मेरी पत्नी) पर; और वह (मेरी पत्नी) भी न माँ पर क्रोध करती है, न मुझ पर; और मैं न माँ पर क्रोध करता हूँ, न पत्नी पर; तो हे राजा, आप ही कहो कि यह दोष किसका है?

और राजा ने दरिद्रता का दोष समझा और कवि का मनोरथ पूर्ण कर दिया।

—: ० :—

(२९) राज्ञः सर्वस्वदानम्

एकदा द्वारपाल आगत्य राजानं प्राह—'देव, कविशेखरो नाम महाकविर्द्वारि वर्तते।' राजा—'प्रवेशय' इत्याह।

एक बार द्वारपाल आकर राजा से बोला—'महाराज, कवि शेखर नाम का महाकवि द्वार पर उपस्थित है।' राजा ने कहा—प्रविष्ट कराओ।'

ततः कविरागत्य 'स्वस्ति' इत्युक्त्वा पठति—

'राजन्दौवारिकादेव प्राप्तवानस्मि वारणम्।
मदवारणमिच्छामि त्वत्तोऽहं जगतीपते' ॥ ३५० ॥

तब कवि ने आकर स्वस्ति' कहा और पढ़ा—

हे राजा, वारण (बाधा) मुझे द्वारपाल से ही प्राप्त हो चुका है; हे जगत् के स्वामी, मैं तुम से मद युक्त वारण (हाथी) चाहता हूँ।

तदा प्राङ्मुखस्तिष्ठन्राजातिसन्तुष्टस्तं प्राग्देशं सर्वं कवये दत्तं मत्वा दक्षिणाभिमुखोऽभूत्। ततः कविश्चिन्तयति—'किमिदम्। राजा मुखं परावृत्य मां न पश्यति' इति।

उस समय पूर्व की ओर (कवि की ओर) मुख करके बैठे राजा ने अत्यंत संतुष्ट हो 'पूर्व का संपूर्ण देश मैंने कवि को दे दिया'—यह मान लिया और दक्षिण की ओर मुँह करके बैठ गया। तो कवि ने सोचा—'यह क्या है कि राजा मुँह फेर कर बैठ गया और मेरी ओर देखता भी नहीं ?'

ततो दक्षिणदेशे समागत्याभिमुखः कविः पठति—

'अपूर्वेयं धनुर्विद्या भवता शिक्षिता कथम्।
मार्गणौघः समायाति गुणो याति दिगन्तरम्॥ ३११॥

ततो राजा दक्षिणदेशमपि मनसा कवये दत्त्वा स्वयं प्रत्यङ्मुखोऽभूत्।

तब दक्षिण की ओर आ राजा के संमुख हो कवि ने पढ़ा—आपने यह अनोखी धनुर्विद्या कहाँ से सीखी है कि बाण-समूह तो आता है पर प्रत्यंचा (धनुष की डोरी) दूसरी ओर चली जाती है, अर्थात् मार्गणौघ (याचक समूह) के आते ही गुण (कृपा) दूसरी ओर हो जाती है।

तो दक्षिण देश भी कवि को देने का मन में संकल्प कर राजा स्वयम् पश्चिम को मुख करके बैठ गया।

कविस्तत्रागत्य प्राह—

'सर्वज्ञ इति लोकोऽयं भवन्तं भाषते मृषा।
पदमेकं न जानीषे वक्तुं नास्तीति याचके'॥ ३१२॥

ततो राजा तमपि देशं कवेर्दत्तं मत्वोदङ्मुखोऽभूत्।

कवि उधर आकर बोला—

आपको यह संसार व्यर्थ ही सर्वज्ञ कहता है; आप तो याचक से 'नहीं है' यह एक शब्द भी कहना नहीं जानते।

तो राजा ने वह (पश्चिम) देश भी कवि को देकर उत्तर की ओर मुख कर लिया।

कविस्तत्राप्यागत्य प्राह—

'सर्वदा सर्वदोऽसीति मिथ्या त्वं कथ्यसे बुधैः।
नारयो लेभिरे पृष्ठं न वक्षः परयोषितः'॥ ३१३॥

ततो राजा स्वां भूमिं कविदत्तां मत्वोत्तिष्ठति स्म।

कवि वहाँ भी आकर बोला—

विद्वान् लोग यह असत्य ही कहते हैं कि तुम सदा सब को सब कुछ दिया करते हो, न तो तुम्हारे शत्रुओं ने तुम्हारी पीठ पायी और न पर नारियों ने तुम्हारा वक्षःस्थल पाया।

तो राजा अपनी सब धरती को दी मान कर उठ गया।

कविश्च तदभिप्रायमज्ञात्वा पुनराह—

'राजन्कनकधाराभिस्त्वयि सर्वत्र वर्षति।
अभाग्यच्छत्रसंछन्ने मयि नायान्ति बिन्दवः' ॥ ३१४ ॥

कवि ने राजा का अभिप्राय न समझ कर फिर कहा—

हे राजा, सब स्थानों पर तुम्हारे स्वर्ण धाराओं की वर्षा करने पर भी अभाग्य के छाते से ढके मुझ पर बूँदें नहीं गिरतीं।

तदा राजा चान्तःपुरं गत्वा लीलादेवीं प्राह-'देवि, सर्वं राज्यं कवये दत्तम्। ततस्तपोवनं मया सहागच्छ' इति। अस्मिन्नवसरे विद्वान्द्वारि निर्गतः। बुद्धिसागरेण वृद्धामात्येन पृष्टः—'विद्वन्, राज्ञा किं दत्तम्' इति। स आह—'न किमपि' इति। तदामात्यः प्राह—'तत्रोक्तं श्लोकं पठ।' ततः कविः श्लोकचतुष्टयं पठति। अमात्यस्ततः प्राह—'सुकवे, तव कोटिद्रव्यं दीयते; परं राज्ञा यदत्र तव दत्तं भवति तत्पुनर्विक्रीयताम्' इति, कविस्तथा करोति। ततः कोटिद्रव्यं दत्त्वा कविं प्रेषयित्वामात्यो राजनिकटमागत्य तिष्ठति स्म।

तब राजा ने रनिवास में जाकर लीला देवी से कहा—'देवी, सारा राज्य कवि को दे दिया। सो मेरे साथ तपोवन चलो'। इसी अवसर पर विद्वान् द्वार पर निकल आया। बूढ़े मंत्री बुद्धिसागर ने पूछा—'हे विद्वान्, राजा ने क्या दिया?' वह बोला—'कुछ भी नहीं।' तो अमात्य ने कहा—'वहाँ पढ़े श्लोक पढ़ो।' तो कवि ने चारों श्लोक पढ़ दिये। तब मंत्री ने कहा—'हे सुकवि, तुम्हें एक करोड़ द्रव्य देता हूँ, पर राजा ने इस समय जो कुछ दिया है, उसे बेच दो।' कवि ने वैसा ही किया। तो कवि को एक करोड़ द्रव्य देकर भेज कर मंत्री राजा के पास जाकर बैठा।

तदा राजा च तमाह—'बुद्धिसागर, राज्यमिदं सर्वं दत्तं कवये। पत्नीभिः सह तपोवनं गच्छामि। तत्र तपोवने तवापेक्षा यदि मया सहागच्छ' इति। ततोऽमात्यः प्राह—'देव, तेन कविना कोटिद्रव्य-मूल्येन राज्यमिदं विक्रीतम्। कोटिद्रव्यं च विदुषे दत्तम्, अतो राज्यं भवदीयमेव। भुङ्क्ष्व' इति। तदा राजा च बुद्धिसागरं विशेषेण संमानितवान्।

तब राजा ने उससे कहा—'बुद्धिसागर, यह सारा राज्य कवि को दे दिया। पत्नी सहित वन जा रहा हूँ। यदि वहाँ तपोवन में तुम्हें मेरे साथ की अपेक्षा हो तो मेरे साथ आओ।' तब मंत्री बोला—'महाराज, एक करोड़ द्रव्य मूल्य में उस कवि ने यह राज्य बेच दिया है और एक करोड़ द्रव्य विद्वान् को दे दिया गया है, इस लिए राज्य आपका ही है। भोग कीजिए।' तो राजा ने बुद्धिसागर का विशेष संमान किया।

—:०:—

(३०) तक्रविक्रेती युवती

अन्यदा राजा मृगयारसेनाटवीमँल्ललाटन्तपे तपने खिन्नदेहः पिपासापर्याकुलस्तुरगमारुह्योदकार्थी निकटतटभुवमटंस्तदलब्ध्वा परिश्रान्तः कस्यचिन्महातरोरधस्तादुपविष्टः। तत्र काचिद्गोपकन्या सुकुमारमनोज्ञसर्वाङ्गा यदृच्छया धारानगरं प्रति तक्रं विक्रीतुकामा तक्रभाण्डं चोद्वहन्ती समागच्छति। तामागच्छन्तीं दृष्ट्वा राजा पिपासावशादेतद्भाण्डस्थं पेयं चेत्पिबामीति बुद्ध्यापृच्छत्—'तरुणि, किमावहसि' इति।'

एक और बार राजा आखेट के शौक में जंगल में घूम रहा था; जब सूरज सिर को तपाने लगा तो खिन्न-दुःखी, प्यास से अत्यंत व्याकुल, जल के लिए घोड़े पर चढ़ निकटवर्त्ती तट भूमि में घूमते-फिरते जल को न पा, थक कर एक बड़े वृक्ष के नीचे जा बैठा। उधर एक सुकुमार और मनोहर सब अंगों वाली ग्वाले की कन्या अपनी इच्छा से माठा बेचने के निमित्त माठे का बरतन लिये धारा नगर की ओर जाती, चली आ रही थी। राजा ने उसे आती हुई देखकर प्यास के वश हो यह सोचा कि इसके बरतन में यदि कोई पीने की वस्तु हो तो पिऊँ और पूछा—'हे तरुणी, क्या ले जा रही हो?'

॥ च तन्मुखश्रिया भोजं मत्वा तत्पिपासां च ज्ञात्वा तन्मुखावलोकन-
शाच्छन्दोरूपेणाह—

'हिमकुन्दशशिप्रभशङ्खनिभं परिपक्वकपित्थसुगन्धरसम् ।
युवतीकरपल्लवनिर्मथितं पिब हे नृपराज रुजापहरम्' ॥३२५॥ इति ।

उसके मुख की कांति से उसने उसे भोज मानकर और उसकी प्यास
को जानकर उसके मुख को देखने के लिए छंद रूप में कहा—

वर्फ कुंद, चंदा और शंख के समान श्वेत,
पके हुए कैथ का सुगंधित जैसे रस है,
युवती के कोमल कर-किसलय से मथा हुआ
पान करें राज-राज, सर्वरोगहर है।

राजा तच्च तक्रं पीत्वा तुष्टस्तां प्राह—'सुभ्रूः, किं तवाभीष्टम्' इति ।
च किंचिदाविष्कृतयौवना मदपरवशमोहाकुलनयना प्राह—'देव,
कन्यामेवावेहि ।'

वह मीठा पीकर संतुष्ट हो राजा ने उससे कहा—'हे सुंदर भ्रुकुटी
ी, तुम्हारी क्या कामना है?' जिसका यौवन कुछ-कुछ प्रकट हो
था, ऐसी वह मद के परवश हो चंचल नेत्रों से मोह प्रकट करती हुई
ी—'महाराज, मुझे कुमारी कन्या ही समझें।

सा पुनराह—

'इन्दुं कैरविणीव कोकपटलीवाम्भोजिनीवल्लभं
मेघं चातकमण्डलीव मधुपश्रेणीव पुष्पव्रजम् ।
माकन्दं पिकसुन्दरीव रमणीवात्मेश्वरं प्रोषित
चेतोवृत्तिरियं सदा नृपवर त्वां द्रष्टुमुत्कण्ठते' ॥३१६॥

यथा कुमुदिनी शशि को चाहे, सूरज को मंडल चकवों का,
झुंड पपीहों का बादल को, फूलों को समूह भ्रमरों का,
आमों को कोयलिया, बिछुड़ा अपना पति रमणी को वांछित,
मनोवृत्ति यह सदा नृपतिवर, तुम्हें देखने को उत्कंठित।

राजा चमत्कृतः प्राह—'सुकुमारि, त्वां लीलादेव्या अनुमत्या स्वीकुर्मः।'
इति धारानगरं नीत्वा तां तथैव स्वीकृतवान् ।

चमत्कृत हो राजा ने कहा—'हे सुकुमारी तुम्हें लीलादेवी की अनुमति से स्वीकारूँगा।' और उसे धारा नगरी ले जाकर उसी प्रकार स्वीकारा।

—: ० :—

(३१) विलक्षणसमस्यापूर्तिः

कदाचिद्राजाभिषेके मदनशरपीडिताया मदिराक्ष्याः करतलगलितो हेमकलशः सोपानपङ्क्तिषु रटन्नव पपात। ततो राजा सभायामागत्य कालिदासं प्राह—सुकवे, एतां समस्यां पूरय—'टटंटटटंटटटंटटंटम्।'

किसी समय राजा के स्नान के अवसर पर काम बाण से पीड़ित मदमाते नयनों वाली तरुणी की हथेली से छूटा सोने का कलसा सीढ़ियों पर टकराता गिर गया। तो राजा ने सभा में आकर कालिदास से कहा—'हे सुकवि, इस समस्या की पूर्ति करो—'टटंटटंटटटटंटटंटम्।'

ततः कालिदासः प्राह—

'राजाभिषेके मदविह्वलाया हस्ताच्च्युतो हेमघटो युवत्याः।
सोपानमार्गे प्रकरोति शब्दं टटंटटंटंटटटंटटंटम्॥ ३१७॥

तदा राजा स्वाभिप्रायं ज्ञात्वाक्षरलक्षं ददौ।

तो कालिदास ने कहा—

नृप के नहाते मद विह्वला के कर से छूटा स्वर्णकलश युवति के, करने लगा शब्द सुसीढ़ियों पर टटंटटंटंटटटंटटटंटटंटम्।

तब राजा ने अपना अभिप्राय समझकर प्रत्यक्षर पर लक्ष मुद्राएँ दीं।

—: ० :—

(३२) चौरो मुककुण्डः कविः

अन्यदा सिंहासनमलंकुर्वाणे श्रीभोजे कश्चिच्चौर आरक्षकै राजनिकटं नीत। राजा तं दृष्ट्वा 'कोऽयम्' इत्यपृच्छत्। तदा रक्षकः प्राह—'देव, अनेन कुम्भिलकेन कस्मिंश्चिद्वेश्यागृहे घातपातमार्गेण द्रव्याण्यपहृतानि' इति। तदा राजा प्राह—'अयं दण्डनीयः' इति।

अन्य बार श्रीभोज के सिंहासन को सुशोभित करने पर रखवाले एक चोर को राजा के निकट लाये। राजा ने उसे देखकर पूछा—'यह कौन है?' तो

रखवाला बोला—'महाराज, इस चोर ने एक वेश्या के घर में सेंध के रास्ते से द्रव्य चुराये हैं।' तो राजा ने कहा—'इसे दंड दो।'

ततो भुक्कुण्डो नाम चौरः प्राह—

'भट्टिर्नष्टो भारवीयोऽपि नष्टो भिक्षुर्नष्टो भीमसेनोऽपि नष्टः।
भुक्कुण्डोऽहं भूपतिस्त्वं हि राजन्भभापङ्क्तावन्तकः संनिविष्टः।३१८।

तो भुक्कुंड नाम का चोर बोला—

नष्ट हुआ भट्टि, भारवीय भी विनष्ट
हुआ नष्ट, भीमसेन भी विनष्ट है,
भुक्कुंड मैं हूँ और तू है भूपति भोज
'भा-भा' की पंक्ति में यमराज संनिविष्ट है।

तदा राजा प्राह—'भो भुक्कुण्ड, गच्छ गच्छ यथेच्छं विहर।'

तो राजा ने कहा—अरे भुक्कुंड, जा भाग, यथेच्छया विहार करता रह।'

—: ० :—

(३३) कविसत्कारः

कदाचिद्भोजो मृगयापर्याकुलो वने विचरन्विश्रमाविष्टहृदयः कञ्चित्तटाकमासाद्य स्थितश्रान्श्रमात्प्रसुप्तः। ततोऽपरपयोनिधिकुहरं गते भास्करे—

तत्रैवारोचत निशा तस्य राज्ञः सुखप्रदा।
चञ्चच्चन्द्रकरानन्दसंदोहपरिकन्दला ॥३१९॥

कभी मृगया में व्यस्त भोज वन मे विचरण करते हुए विश्राम करने की इच्छा से किसी तालाब पर पहुँच जा बैठा और श्रम के कारण सो गया। तब सूर्य के पश्चिम समुद्र में डूब जाने पर वहीं चमकते चंद्रमा की किरणों के आनंद से परिपूर्ण सुखदायिनी रात राजा को अच्छी लगी।

ततः प्रत्यूषसमये नगरीं प्रति प्रस्थितो राजा चरमगिरिनितम्बलम्बमानशशाङ्कबिम्बमवलोक्य सकुतूहलः सभामागत्य तदा समीपस्थान्कवीन्द्रान्निरीक्ष्य समस्यामेकामवदत्—'चरमगिरिनितम्बे चन्द्रबिम्बं ललम्बे।'

तब प्रभात वेला में नगरी की ओर जाते राजा ने अस्ताचल श्रेणी में लटकते चंद्रबिम्ब को देखकर कुतूहल पूर्वक सभा में आ उस समय निकटवर्ती कवियों का निरीक्षण करके एक समस्या पढ़ी—'चंद्र बिम्ब लटक गया अस्ताचलमाल में ।'

तदा प्राह भवभूतिः—

'अरुणकिरणजालैरन्तरिक्षे गतर्क्षे'

तो भवभूति ने कहा—

'नभ में रवि किरणों से सितारे मिट जाने पर'

ततो दण्डी प्राह—

'चलति शिशिरवाते मन्दमन्दं प्रभाते ।'

तब दंडी ने कहा—

'मंद मंद शीत पवन बहते उषाकाल में ।

ततः कालिदासः प्राह—

'युवतिजनकदम्बे नाथमुक्तौष्ठबिम्बे चरमगिरिनितम्बे चन्द्रबिम्बं ललम्बे' ।

तदनंतर कालिदास ने कहा—

'स्वामियों से नारियों के मुक्त होते ओष्ठबिम्ब चंद्रबिम्ब लटक गया अस्ताचल-भाल में ।'

ततो राजा सर्वानपि संमानितवान् । तत्र कालिदासं विशेषतः पूजितवान् ।

तब राजा ने सब कवियों का संमान किया और कालिदास की विशेष आराधना की ।

—: ० :—

(३४) रोगीराजा

अथ कदाचिद्भोजो नगराद्बहिर्निर्गतो नूतनेन तटाकाम्भसा बाल्यसाधितकपालशोधनादि चकार । तन्मूलेन कश्चन शफरशावः कपालं प्रविष्टो विकटकरोटिकानिकटवटितो विनिर्गतः । ततो राजा स्वपुरीमवाप । तदारभ्य राज्ञः कपाले वेदना जाता ।

एक बार भोज नगर से बाहर निकला और नये तालाब के पानी से बचपन से सिद्ध कपाल-शुद्धि आदि की क्रिया की। ताल के नीचे से एक मछली का बच्चा राजा के कपाल में घुस गया और टेढ़ी नस के निकट कृमि छोड़कर बाहर निकल गया। फिर राजा अपनी पुरी में आगया। तब से राजा के कपाल में पीडा होने लगी।

ततस्तत्रत्यैर्भिषग्वरैः सम्यक्चिकित्सितापि न शान्ता। एवमहर्निशं नितरामस्वस्थे राज्यमानुषविदितेन महारोगेण।

क्षामं क्षाममभूद्वपुर्गतसुखं हेमन्तकालेऽब्जव-
द्वक्त्रं निर्गतकान्ति राहुवदनाक्रान्ताब्जबिम्बोपमम्।
चेतः कार्यपदेषु तस्य विमुखं क्लीवस्य नारीष्विव
व्याधिः पूर्णतरो बभूव विपिने शुष्के शिखात्रानिव ॥३२१॥

वह पीडा वहाँ के अच्छे चिकित्सकों के द्वारा भली भाँति चिकित्सा करने पर भी दूर न हुई। इस प्रकार मनुष्यों को अज्ञात महारोग से राजा के दिन रात निरंतर अस्वस्थ रहने पर—

सुख-चैन न मिलने से राजा का शरीर अत्यंत क्षीण और मुख हेमंत ऋतु में कमल के समान अभद्र, कांतिहीन, राहु के मुख मे पड़े चंद्रविम्ब के सदृश हो गया। जैसे नपुसक स्त्रियों से विमुख रहता है, वैसे ही उसका चित्त राज-काज से विमुख रहने लगा और जैसे सूखे जंगल में आग फैल जाती है, वैसे ही रोग पूरी तरह फैल गया।

एवमतीते संवत्सरेऽपि काले न केनापि निवारितस्तद्गदः। ततः श्रीभोजो नानाविधसमानौषधग्रसनरोगदुःखितमनाः समीपस्थं शोक-सागरनिमग्नं बुद्धिसागरं कथमपि संयुताक्षरामुवाच वाचम्—'बुद्धिसागर, इतः परमस्मद्विषये न कोऽपि भिषग्वरो वसतिमातनोतु। वाहटादि-भेषजकोशान्निखिलान्स्रोतसि निरस्यागच्छ। मम देवसमागमसमयः समागतः, इति। तच्छ्रुत्वा सर्वेऽपि पौरजनाः कवयश्चावरोधसमाजश्च विगलदस्रासारनयना बभूवु।

इस प्रकार एक वर्ष का समय बीत जाने पर भी किसी से उसका रोग दूर न हुआ। तब अनेक प्रकार की एक जैसी औषधों के सेवन और रोग से

दुःखी मनवाले श्री भोज ने निकट बैठे शोक के समुद्र में डूबे बुद्धिसागर से किसी प्रकार भरे स्वर में कहा—'बुद्धिसागर, अब के बाद कोई चिकित्सक हमारे राज्य में न रहे। वाह्लट आदि के रचे सब ओषधि कोष ग्रन्थों को नदी में बहा आओ। मेरा देवों से समागम का समय (मृत्युकाल) आ गया।' यह सुनकर सभी नगरवासी, कवि और अंतःपुर के निवासी जन आँखों से आँसुओं की धाराएँ बहाने लगे।

ततः कदाचिद्देवसभायां पुरन्दरः सकलमुनिवृन्दमध्यस्थं वीणामुनिमाह—'मुने' इदानीं भूलोके का नाम वार्ता' इति। ततो नारदः प्राह—'सुरनाथ, न किमप्याश्चर्यम्। किंतु धारानगरवासी श्रीभोजभूपालो रोगपीडितो नितरामस्वस्थो वर्तते। स तस्य रोगः केनापि न निवारितः। तदनेन भोजनृपालेन भिषग्वरा अपि स्वदेशान्निष्कासिताः। वैद्यशास्त्रमप्यनृतमिति निरस्तम्' इति।

तब फिर कभी देव सभा में सब मुनियों की मंडली के मध्य में स्थित वीणाधारी मुनि नारद से इंद्र ने कहा—'हे मुनि, आजकल भूलोक का क्या समाचार है?' तो नारद ने कहा—'देवराज, कोई विचित्र बात नहीं है, किंतु धारा नगर का निवासी श्रीभोज राजा रोग से पीडित अत्यंत अस्वस्थ है। उसका रोग किसी से दूर नहीं हो पाया। सो उन भोज नरपाल ने अच्छे-अच्छे चिकित्सक भी अपने देश से निकाल दिये हैं। वैद्य शास्त्र भी झूठा है, सो प्रसिद्ध कर दिया है।

एतदाकर्ण्य पुरुहूतः समीपस्थौ नासत्याविदमाह—'भोः स्ववैद्यौ, कथमनृतं धन्वन्तरीयं शास्त्रम्।' तदा तावाहतुः—'अमरेश देव, न व्यलीकमिदं शास्त्रम्। किंत्वमरविदितेन रोगेण बाध्यतेऽसौ भोजः' इति। इन्द्रः—'कोऽसावनिवार्यरोगः किं भवतोर्विदितः'। ततस्तावूचतुः—'देव' कपालशोधनं कृतं भोजेन, तदा प्रविष्टः पाठीनः। तन्मूलोऽयं रोगः' इति। तदेन्द्रः स्मयमानमुखः प्राह—'तदिदानीमेव युवाभ्यां गन्तव्यम्। न चेदितःपरं भूलोके भिषक्शास्त्रस्यासिद्धिर्भवेत्। स खलु सरस्वतीविलासस्य निकेतनं शास्त्राणामुद्धर्ता च' इति।

यह सुनकर इंद्र ने निकट स्थित अश्विनी कुमारों से कहा—'हे स्वर्ग के वैद्यो क्या धन्वंतरि का शास्त्र (आयुर्वेद) असत्य है ?' तो वे बोले—'हे देवराज महाराज, यह शास्त्र झूठा नहीं है, किंतु भोज ऐसे रोग से ग्रस्त है, जिसका ज्ञान देवों को ही है।' इंद्र ने कहा—'यह कौन-सा असाध्य रोग है, क्या आप दोनों को ज्ञात है ?' तो उन दोनों ने कहा—'देव भोज ने कपाल-शोधन किया था, तभी एक मछली का बच्चा घुस गया। इस रोग की जड़ में वही है।' तो मुस्कराते हुए इंद्र ने कहा—'तो आप दोनों जल्दी जाओ, नहीं तो अब से भूलोक में भिषक्-शास्त्र मिथ्या सिद्ध हो जायेगा। राजा भोज सरस्वती की विलासलीला का निकेतन और शास्त्रों का उद्धारकर्ता है।'

ततः सुरेन्द्रादेशेन तावुभावपि धृतद्विजन्मवेषौ धारानगरं प्राप्य द्वारस्थं प्राहतुः—'द्वारस्थ, आवां भिषजौ काशीदेशादागतौ। श्रीभोजाय विज्ञापय। तेनानृतमित्यङ्गीकृतं वैद्यशास्त्रमिति श्रुत्वा तत्प्रतिष्ठापनाय तद्रोगनिवारणाय च' इति। ततो द्वारस्थः प्राह—'भो विप्रौ, न कोऽपि भिषक्प्रवरः प्रवेष्टव्य इति राज्ञोक्तम्। राजा तु केवलमस्वस्थः। नायमवसरो विज्ञापनस्य' इति। तस्मिन्क्षणे कार्यवशाद्बहिर्निर्गतो बुद्धिसागरस्तौ दृष्ट्वा 'कौ भवन्तौ' इत्यपृच्छत्। ततस्तौ यथागतमूचतुः। ततो बुद्धिसागरेण तौ राज्ञः समीपं नीतौ।

तो सुरराज के आदेश से वे दोनों ब्राह्मण का वेष-धारण करके धारानगरी पहुँच कर द्वारपाल से बोले—'हे द्वारपाल, हमदोनों काशी देश से आये वैद्य हैं। श्री भोज को सूचना दो। उन्होंने यह मान लिया है कि वैद्यशास्त्र मिथ्या है; हम यह सुनकर उसकी पुनः प्रतिष्ठा करने और उनका रोग दूर करने आये हैं।' तो द्वारपाल बोला—'ब्राह्मणो, राजा ने कहा है कि किसी वैद्यवर को भीतर मत भेजो। राजा तो बस अस्वस्थ हैं, सूचना देने का यह अवसर नहीं है।' उसी क्षण किसी कार्य के वश बाहर आये बुद्धिसागर ने उन्हें देखकर पूछा—'आप दोनों कौन हैं ?' तो उन्होंने जैसा पहिले कहा था, बता दिया। तो बुद्धिसागर उन दोनों को राजा के पास ले गया।

ततो राजा ताववलोक्य मुखश्रियाऽमानुषाविति बुद्ध्वा 'आभ्यां शक्यतेऽयं रोगो निवारयितुम्' इति निश्चित्य तौ बहु मानितवान्।

ततस्तावूचतुः–'राजन्, न भेतव्यम्। रोगो निर्गतः। किं तु कुत्रचिदेकान्ते त्वया भवितव्यम्' इति। ततो राज्ञापि तथा कृतम्।

तो राजाने उन दोनों को देखा और उनके मुख की कांति से उन्हें 'मनुष्य से भिन्न समझ कर वह इस निश्चय पर पहुँचा कि इन दोनों से इस रोग का निवारण हो सकता है और उनका उसने बहुत संमान किया। तो वे दोनों बोले––'राजन्, भय मत कीजिए। रोग चला गया, किंतु कहीं आप एकांत में हो जायें।' तो राजा ने वैसा ही किया।

ततस्तावपि राजानं मोहचूर्णेन मोहयित्वा शिरःकपालमादाय तत्करोटिकापुटे स्थितं शफरकुलं गृहीत्वा कस्मिंश्चिद्भाजने निक्षिप्य संधानकरण्या कपालं यथावदारचय्य संजीविन्या च तं जीवयित्वा तस्मै तद्दर्शयताम्। तदा तद्दृष्ट्वा राजा विस्मितः 'किमेतत्' इति तौ पृष्टवान्। तदा तावूचतुः—'राजन् त्वया बाल्यादारभ्य परिचितकपालशोधनतः संप्राप्तमिदम्' इति।

तो उन दोनों ने भी राजा को बेसुध करने वाले चूर्ण से बेसुध करके सिर का कपाल ले उसकी नस के पुट मे स्थित मछलियों को निकाल कर एक बरतन में रखा और संधि जोड़ने की क्रिया से कपाल को यथापूर्व करके और संजीवनी से राजा को चैतन्य करके उसे वे मछलियाँ दिखायीं। तब उन्हें देखकर विस्मित हुए राजा ने उनसे पूछा––'यह क्या है?' तो वे दोनों बोले––'हे राजा, बचपन से लेकर जाने-बूझे कपाल-शोधन से तुमने इन्हें प्राप्त किया है।'

ततो राजा तावश्विनौ मत्वा तच्छोधनार्थमपृच्छत्—'किमस्माकं पथ्यम्' इति। ततस्तावूचतुः—

'अशीतेनाम्भसा स्नानं पयःपानं वराः स्त्रियः।
एतद्वो मानुषाः पथ्यम्'—इति।

तो राजा ने उन दोनों को अश्विनी कुमार मानकर रोग ठीक करने की इच्छा से पूछा––'हमारा पथ्य क्या है?' तो वे दोनों बोले––

'उष्ण जल से स्नान, दुग्ध का पान, सुगढ़ नारीजन, यही तुम्हारा पथ्य मानुषो—

तत्रान्तरे राजा मध्ये 'मानुषाः' इति संबोधनं श्रुत्वा 'वयं चेन्मानुषाः, कौ युवाम्' इति तयोर्हस्तौ झटिति स्वहस्ताभ्यामग्रहीत्। ततस्तत्क्षणएव तावन्तर्धत्तां ब्रुवन्तावेव 'कालिदासेन पूरणीयं तुरीयचरणम्' इति। ततो राजा विस्मितः सर्वानाहूय तद्वृत्तमब्रवीत्। तच्छ्रुत्वा सर्वेऽपि चमत्कृता विस्मिताश्च बभूवुः।

इस कथन के बीच राजा ने 'मानुषो' यह संबोधन सुनकर कहा—"यदि हम मानुष हैं तो तुम दोनों कौन हो'—और झट से अपने हाथों से उन दोनों के दोनों हाथों को पकड़ लिया। तो वे दोनों 'चौथे चरण की पूर्ति कालिदास द्वारा होगी', कहते हुए उसी क्षण अंतर्धान होगये। तो विस्मित हुए राजा ने सब को बुलाकर वह हाल कहा। उसे सुनकर सभी चमत्कृत और विस्मित हुए।

ततः कालिदासेन तुरीयचरणं पूरितम्—
'स्निग्धमुष्णं च भोजनम्' ॥ ३२२ ॥
इति। ततो भोजोऽपि कालिदासं लीलामानुषं मत्वा परं संमानितवान्।
अथ भोजनृपालः प्रतिदिनं संजातबलकान्तिर्ववृधे धाराधीशः कृष्णेतरपक्षे चन्द्र इव।

तो कालिदास ने चौथा चरण पूरा किया—
चिकना गरम-गरम भोजन।'
तो भोज ने भी कालिदास को लीला मानुष (मनुष्य की लीला करनेवाला देव) मानकर परम संमान किया। तदनंतर धारा के अधीश्वर नरपाल भोज बल और कांति पाकर उसी प्रकार स्वास्थ्य वृद्धि को प्राप्त करने लगे जिस प्रकार कि उजाले पाख में चंद्रमा बढ़ता है।

—: ० :—

(३५) गाथासनाथा चीठिका

ततः कदाचित्सिंहासनमलंकुर्वाणे श्रीभोजे कालिदास-भवभूति-दण्डि-बाण-मयूर-वररुचि-प्रभृतिकवितिलककुलालंकृतायां सभायां द्वारपाल

एत्याह-'देव, कश्चित्कविर्द्वारि तिष्ठति। तेनेयं प्रेषिता गाथासनाथा चीठिका देवसभायां निक्षिप्यताम्' इति तां दर्शयति।

फिर कभी श्रीभोज के सिंहासन सुशोभित करने पर कालिदास, भवभूति, दंडी, बाण, मयूर, वररुचि आदि कवियों के तिलक स्वरूप कवि कुल से अलंकृत सभा में द्वारपाल आकर बोला—'महाराज, कोई कवि द्वार पर उपस्थित है। उसने इस गाथा के साथ महाराज की सभा में देने के लिए यह चीठी भेजी है।' यह कहकर उसने पत्रिका दिखायी।

राजा गृहीत्वा तां वाचयति—

'काचिद्बाला रमणवसतिं प्रेषयन्ती करण्डं
दासीहस्तात्सभयमलिखद्व्यालमस्योपरिस्थम्।
गौरीकान्तं पवनतनयं चम्पकं चात्र भावं
पृच्छत्यार्यो निपुणतिलको मल्लिनाथः कवीन्द्रः'॥३२३॥

राजा ने लेकर पढ़ा—

एक नव युवती ने अपने प्रियतम के पास दासी के हाथ एक कंडी (बाँस की पिटारी) भेजते हुए उसके ऊपर डरते-डरते एक सर्प बना दिया और गौरी पति शिव, पवन पुत्र हनुमान् और चंपा का फूल—ये सब भी बना दिये; तो चतुरों में तिलक समान (श्रेष्ठ) कविराज आर्य मल्लिनाथ पूछता है कि इसका भाव क्या है?

तच्छ्रुत्वा सर्वापि विद्वत्परिषच्चमत्कृता। ततः कालिदास प्राह-'राजन्, मल्लिनाथः शीघ्रमाकारयितव्यः' इति। ततो राजादेशाद्द्वारपालेन स प्रवेशितः कवी राजानं 'स्वस्ति' इत्युक्त्वा तदाज्ञयोपविष्टः।

उसे सुन सारी विद्वन्मंडली चमत्कृत हो गयी। तो कालिदास ने कहा—'हे राजन्, मल्लिनाथ को शीघ्र बुलवाइए।' तो फिर राजा की आज्ञा से द्वारपाल-द्वारा भीतर भेजा गया वह कवि राजा के प्रति 'मंगल हो' यह कह कर उसकी आज्ञा से बैठ गया।

ततो राजा प्राह तं कवीन्द्रम्—'विद्वन्मल्लिनाथकवे, साधु रचिता गाथा।' तदा कालिदासः प्राह—'किमुच्यते साध्विति। देशान्तरगत-

कान्तयाश्चारित्र्यवर्णनेन श्लाघनीयोऽसि विशिष्य तत्तद्भावप्रतिभट-वर्णनेन।'

तब राजा ने उस कविराज से कहा—'हे विद्वान् मल्लिनाथ कवि, आपने अच्छी गाथा रची।' तो कालिदास ने कहा—केवल अच्छी गाथा क्या कहते हैं—देशांतर (अन्य स्थान) में पड़ी (विरहिणी) प्रिया के चरित्र का वर्णन करने से, विशेषरूप में प्रत्येक भाव के विरोधी का वर्णन कर देने से कवि प्रशंसा पाने योग्य है।'

[टिप्पणी—चंपा का फूल युवती के निर्मल चरित्र का प्रतीक है, जिसके पास इधर-उधर रस के लोभ में भनभनाते भौंरे-सदृश विलासी फटक भी नहीं सकते; सर्प चरित्र रूपी धन का प्रहरी है; शिव कामजयी हैं अर्थात् युवती के चित्त में काम-विकार उत्पन्न होते ही मिट जाते है; हनुमान् रावण की वाटिका के विध्वंसक और सीता का समाचार राम तक पहुँचाने वाले हैं, सो वह राक्षसों के बीच रहकर भी अपने चरित्र की रक्षा कर रही हैं—यह संदेश और समाचार हनुमान् जी ले जा रहे हैं, इसका प्रतीक हनुमान का चित्र है।]

तदा भवभूतिः प्राह—'विशिष्यत इयं गाथा पङ्क्तिकण्ठोद्यानवैरिणो वातात्मजस्य वर्णनात्' इति।

तब भवभूति ने कहा—दशकंठ रावण की वाटिका के वैरी पवन पुत्र के वर्णन से यह गाथा विशिष्ट होगयी है।

ततः प्रीतेन राज्ञा तस्मै दत्तं सुवर्णानां लक्षम् पञ्च गजाश्च दश तुरगाश्च दत्ताः।

तब प्रसन्न हो राजा ने उसे लाख-भर सोना, पाँच हाथी और दस घोड़े दिये।

ततः प्रीतो विद्वान्स्तौति राजानम्—

'देव भोज तव दानजलौघैः सेयमद्य रजनीति विशङ्के।
अन्यथा तदुदितेषु शिलागोभूरुहेषु कथमीदृशदानम्' ॥ ३२४ ॥

तब प्रसन्न होकर विद्वान् ने राजा की स्तुति की—

'हे महाराज भोज, आपके दान रूपी जलप्लावन के कारण आज भी वही प्रलय रात्रि शेष है, ऐसी प्रतीति मुझे हो रही है; अन्यथा (प्रलयरात्रि

बीत जाने पर समुद्र में से) उन सब प्रसिद्ध शिला चिंतामणि, गाय कामधेनु और पेड़ कल्पवृक्ष के निकल जाने पर ऐसा विलक्षण दान कैसे संभव होता ?

ततो लोकोत्तरं श्लोकं श्रुत्वा राजा पुनरपि तस्मै लक्षत्रयं ददौ। ततो लिखति स्म भाण्डारिको धर्मपत्रे—

'प्रीतः श्रीभोजभूपः सदसि विरहिणो गूढनर्मोक्तिपद्यं
श्रुत्वा हेम्नां च लक्षं दश वरतुरगान्पञ्च नागानयच्छत्।
पश्चात्तत्रैव सोऽयं वितरणगुणसद्वर्णनात्प्रीतचेता
लक्षं लक्षं च लक्षं पुनरपि च ददौ मल्लिनाथाय तस्मै' ॥३२५॥

तो ऐसा लोकोत्तर (दिव्य) श्लोक सुनकर राजा ने फिर उसे तीन लाख मुद्राएँ दीं। तब भांडारी ने धर्मपत्र पर लिखा—

सभा में विरही के प्रति गूढ संकेत कथन से पूर्ण पद्य सुनकर प्रसन्न हुए श्रीभोज ने लाख-भर सोना, दस अच्छे घोड़े और पाँच हाथी दिये। तत्पश्चात् वहीं दान करने के गुण का सुंदर वर्णन करने पर उस मल्लिनाथ को प्रसन्न चित्त राजा ने फिर लाख, लाख और लाख (अर्थात् तीन लाख) मुद्राएँ दीं।

—: o :—

(३६) राज्ञश्चरमगीतिः

ततः कदाचिद्भोजराजः कालिदासं प्रति प्राह—'सुकवे, त्वमस्माकं चरमग्रन्थं पठ।' ततः क्रुद्धो राजानं विनिन्द्य कालिदासः क्षणेन तं देशं त्यक्त्वा विलासवत्या सहैकशिलानगरं प्राप।

कभी भोजराज ने कालिदास से कहा—'हे सुकवि, तुम हमारे मरणकाल का विवरण देने वाली (मरणगीत) रचना पढ़ो।' तो राजा की निंदा करके क्रुद्ध हो कालिदास विलासवती के साथ एकशिला नगर को चला गया।

ततः कालिदासवियोगेन शोकाकुलस्तं कालिदासं मृगयितुं राजा कापालिकवेषं धृत्वा क्रमेणैकशिलानगरं प्राप। ततः कालिदासो योगिनं दृष्ट्वा तं सामपूर्वं पप्रच्छ—'योगिन्, कुत्र तेऽस्ति स्थितिः' इति।

तत्पश्चात् कालिदास के वियोग में शोक से व्याकुल राजा उस कालिदास को खोजने के लिए कापालिक का वेष धरकर यथा क्रम एकशिला नगर पहुँचा। तो कालिदास ने योगी को देखकर उससे संमानपूर्वक पूछा—'योगीजी, आपका स्थान कहाँ है ?'

योगी वदति—'सुकवे, अस्माकं धारानगरे वसतिः' इति।

योगी ने कहा—हे सुकवि, हमारा निवासस्थान धारा नगरी है।'

ततः कविराह—'तत्र भोजः कुशली किम् ?'

तो कवि ने पूछा—'वहाँ भोज सकुशल हैं ?'

ततो योगी प्राह—'किं मया वक्तव्यम्' इति।

तो योगी ने कहा—'मैं क्या कहूँ ?'

ततः कविराह—'तत्रातिशयवार्तास्ति चेत्सत्यं कथय' इति।

तो कवि ने कहा—'वहाँ यदि कोई विशेष बात हो तो सच सच बताइए।'

तदा योगी प्राह—'भोजो दिवं गतः' इति।

तब योगी ने कहा—'भोज स्वर्ग चला गया।'

ततः कविर्भूमौ निपत्य प्रलपति—'देव, त्वां विनास्माकं क्षणमपि भूमौ न स्थितिः। अतस्त्वत्समीपमहमागच्छामि' इति कालिदासो क्षणं विलप्य चरमश्लोकं कृतवान्—

'अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती।
पण्डिताः खण्डिताः सर्वे भोजराजे दिवं गते'॥ ३२६॥

तो धरती पर पछाड़ खाकर कवि विलाप करने लगा—'महाराज, आपके विना धरती पर हम क्षण भर भी नहीं रह सकते; इसलिए मैं आपके पास आता हूँ।' इस प्रकार कालिदास ने बहुत-सा विलाप करके मरण श्लोक रचा—

आज धारा का नहीं आधार, शारदा का है नहीं अवलंब,
हुए खंडित आज पंडित लोग, भोजराज चले गये स्वर्लोक।

एवं यदा कविना चरमश्लोक उक्तस्तदैव स योगी भूतले विसंज्ञः पपात। ततः कालिदासस्तथाविधं तमवलोक्य 'अयं भोज एव' इति निश्चित्य

'अहह महाराज, तत्रभवताहं वञ्चितोऽस्मि' इत्यभिधाय झटिति तं श्लोकं प्रकारान्तरेण पपाठ--

इस प्रकार ज्योंही कवि ने मरणश्लोक पढ़ा, त्योंही वह योगी बेसुध होकर धरती पर गिर पड़ा। तो उसे बेसुध देखकर कालिदास को निश्चय हो गया कि यह भोज ही है; और 'अहा महाराज, श्रीमान् ने ने मुझे धोखे में डाल दिया', यह कर झट से श्लोक को दूसरे प्रकार से पढ़ दिया--

'अद्य धारा सदाधारा सदालम्बा सरस्वती।
पण्डिता मण्डिताः सर्वे भोजराजे भुवं गते' ॥ ३२७ ॥

ततो भोजस्तमालिङ्ग्य प्रणम्य धारानगरं प्रति ययौ।

आज धारा का सुजन आधार, शारदा का है सुजन अवलंब,
हुए मंडित आज पंडित लोग, भोजराज विराजते भूलोक।

तदनंतर भोज उसका आलिंगन कर प्रणाम करके धारानगरी को गया।

शैले शैलविनिश्चलं च हृदयं मुञ्जस्य तस्मिन्क्षणे
भोजे जीवति हर्षसंचयसुधाधाराम्बुधौ मज्जति।
स्त्रीभिः शीलवतीभिरेव सहसा कर्तुं तपस्तत्परे
मुञ्जे मुञ्चति राज्यभारमभजत्त्यागैश्च भोगैर्नृपः ॥३२८॥

उस काल (जब भोज के शिरच्छेद की आज्ञा दी थी) मुंज का हृदय पहाड़ पर पड़े पत्थर के समान अत्यंत निश्चल हो गया था; भोज के जीवित रह जाने पर वही हृदय जैसे विपुल हर्ष की अमृत धाराओं के समुद्र में स्नान करने लगा (मुंज अत्यंत प्रसन्न हुआ)। फिर अकस्मात् शीलवती रानियों के साथ तप करने को तत्पर मुंज के राज्यभार छोड़ देने पर राजा भोज ने त्याग और भोग--दोनों करते हुए उस राज्य का उपभोग किया।

* इति भोजप्रबन्धः समाप्तः *

श्लोकानुक्रमणिका

	श्लोकः ।
अकाण्डधृतमानसव्यव	२६७
अघटितघटितं घटयति	१४४
अङ्के केऽपि शशङ्किरे	२५८
अतिदाक्षिण्ययुक्तानां	१०
अत्युद्धृता वसुमती	२१६
अदातृमानसं क्वापि	१३२
अद्य धारा निराधारा	३२६
अद्य धारा सदाधारा	३२७
अधरस्य मधुरिमाणं	८८
अनेके फणिनः सन्ति	३००
अपाङ्गपातैरपदेश	२७७
अपूर्वेवं धनुर्विद्या	३११
अपूर्वो भाति भारत्याः	८६
अपृष्ठस्तु नरः किंचित्	१९३
अप्रगल्भस्य या विद्या	४८
अप्रार्थितानि दुःखानि	१५७
अफलानि दुरन्तानि	१६
अबलासु विलासिनो	२९४
अमूत्प्राची पिङ्गा रस	२६३
अम्बा कुप्यति न मया	३०९
अम्भोजपत्रायतलोच	२७८
अम्भोधिः स्थलतां स्थलं	३१
अयं मे वाग्गुम्फो	९६
अये लाजा उच्चैः पथि	२२८
अरुणकिरणजाले	३२०
अर्था न सन्ति न च	२८१
अर्थिनी कवयति कवयति	१११
अर्धं दानववैरिणा	२४१
अवज्ञास्फुटितं प्रेम	१३६
अवमानं पुरस्कृत्य	१२
अविदितगुणापि	२४०
अविवेकमतिर्नृपति	५१
अविवेकमतिर्नृपति	१४०
अशीतेनाम्भसा स्नानम्	३२२
अश्वप्लुतं वासवगर्जितम्	१४३
अष्टौ हाटककोटयः	२३१
असूयया हतेनैव	९
अस्य श्रीभोजराजस्य	१६२
अहो मे सौभाग्यं मम च	२५३
आकारमात्रविज्ञान	९१
आगतानामपूर्णानाम्	७२
आत्मायत्ते गुणग्रामे	२२४
आदानस्य प्रदानस्य	११
आपदर्थं धनं रक्षेत्	१९८
आपन्न एव पात्रं	१७८
आबद्धकृत्रिमसटा	१७७
आमोदैर्मरुतो मृगाः	२३९
आरनालगलदाहशङ्कया	२८८
आश्वास्य पर्वतकुलम्	२८०
आसन्क्षीणानिय वन्ति	२१०
इक्षोरग्रात्क्रमशः पर्वणि	१४७
इतश्चेतश्चाद्भिर्विघटित	१८३

	श्लोकः।
इन्दुं कैरविणीन कोक	३१६
इह निवसति मेरुः	११३
इहैव नरकव्याधे	३५
उचितमनुचितं वा कुर्वता	२४
उपकारश्चापकारो	४१
उपचारः कर्तव्यो याव	७८
उपभोगकातराणां	११७
उपस्थिते विप्लव एव	१५५
उरगी शिशवे बुभुक्षवे	२९३
ऊषरं कर्मसस्यानां क्षेत्रम्	१०९
एक एव सुहृद्धर्मो	३२
एकमस्य परमेक	१८८
एकेन राजहंसेन	१५२
एकोऽपि त्रय इव भाति	२९८
एतासामरविन्द	७५
एतेषु हा तरुणमारुत	२०४
एते हि गुणाः पङ्कज	६७
एषा धारेन्द्रपरिषत्	२५०
कङ्कणं नयनद्वन्द्वे	१२३
कचभारात्कुचभारः	२९०
कण्ठस्था या भवेद्विद्या	४
कतिपयदिवसस्थायिनि	३९
कलकण्ठ यथा शोभा	२८७
कलमाः पाकविनम्रा	१७४
कवित्वं न शृणोत्येव	१३०
कविमतिरिव बहुलोहा	२०१
कविषु वादिषु भोगिषु	१८१
कवीनां मानसं नौमि	११२
कस्य तृषं न क्षपयसि	७३
काकाः किं किं न कुर्वन्ति	१९२
काचिद्बाला रमणवसतिम्	३२३
का त्वं पुत्रि नरेन्द्र	१८२
कान्तोऽसि नित्यमधुरो	२३५
कालिदास कलावास	१५९
कालिदासकवेर्वाणी	२४९
काव्यं करोमि नहि	९४
का सभा किं कविज्ञानं	१९४
किं कुप्यसि कस्मैचन	६९
किंचिद्वेदमयं पात्रं	१०७
किं जातोऽसि चतुष्पथे	२२६
किं नु मे स्यादिदं कृत्वा	२३
किं पौरुषं रक्षति	१५३
कियन्मात्रं जलं विप्र	१८५
किसलयानि कुतः	२०६
कुमुदवनमपश्रि श्रीमद	२७९
कूर्मः पातालगङ्गापयस्त	२२७
कृतो यैर्न च वाग्मी च	१०४
केचिन्मूलाकुलाशा	२४३
क्रीडोद्याने नरेन्द्रेण	२२८
क्रोधं मा कुरु मद्वा	१८९
क्व जनकतनया क्व रामजाया	३०५
क्व नु कुलमकलङ्कमायताक्ष्याः	३०४
क्षणमप्यनुगृह्णाति	२४२
क्षमी दाता गुणग्राही	९३
क्षामं क्षाममभूद्वपु	३२१
क्षुत्क्षामाः शिशवः	२१५
ख्यातिं गमयति सुजनः	१२९
एतासामरविन्द	७५

	श्लोकः।
गच्छतस्तिष्ठतो वापि	१५८
गुणाः खलु गुणा एव	२२३
ग्रामे ग्रामे कुटी रम्या	४६
घटो जन्मस्थानं मृग	१६८
चेतोभुवश्चापलताप्रसंगे	८१
चेतोहरा युवतयः	२००
च्युतामिन्दोर्लेखां रति	११५
छन्नं सैन्यरजोभरेण	२६६
जगति विदितमेतत्काष्ठ	२६५
जम्बूफलानि पक्वानि	२६५
जरां मृत्युं भयं व्याधिं	३६
जाग्रति स्वप्नकाले च	१४६
जातः कोऽयं नृपश्रेष्ठ	२२
जातमात्रं न यः शत्रुम्	१४
जीवितं तदपि जीवितं	५६
ज्ञायते जातु नामापि	१२०
ततो नदीं समुत्तीर्णम्	१८४
तत्रैवारोचत निशा	३१६
तदस्मै चोराय प्रति	२३७
तदेवास्य परं मित्रम्	१४६
तन्मुहूर्तेन रामोऽपि	२१
तपसः संपदः प्राप्या	१६५
तर्कव्याकरणाध्वनीन	२६०
तानीन्द्रियाण्यविकलानि	७
तुलणं अणु अणुसरइ	१५४
तुल्यजातिवयोरूपान्	३७
तुल्यवर्णच्छदः कृष्णः	२६६
ते यान्ति तीर्थेषु बुधा	२७४
ते वन्द्यास्ते महात्मानः	१२१
त्रैलोक्यनाथो रामोऽस्ति	२०
त्वच्चित्ते भोज निर्यातम्	२१३
त्वत्तोऽपि विषमो राजन्	२५४
त्वद्यशोजलधौ भोज	२०६
त्वयि वर्षति पर्जन्ये	१८७
दत्ता तेन कविभ्यः	७६
ददतो युध्यमानस्य	१०५
दानोपभोगवन्ध्या	६१
दारिद्र्यस्यापरा मूर्तिः	१००
दारिद्र्यानलसंतापः	१०३,२८२
दिवा काकरुताद्भीता	२६६
दृष्टे श्रीभोजराजेन्द्रे	६६
देव त्वद्दानपाथोधौ	१६६
देव भोज तव दान	३२४
देव मृत्खननाद्दृष्टं	१७५
देशे देशे भवनं भवने	४५
देहे पातिनि का रक्षा	५३
दोषमपि गुणवति	१३३
दोषाकरोऽपि कुटिलोऽपि	१३८
धनिनोऽप्यदानविभवा	११६
धनुः पौष्पं मौर्वी मधु	१७१
धन्यां विलासिनीं मन्ये	१६०
धारयित्वा त्वयात्मानम्	२३४
धारावरस्त्वदसिरेषः	२२५
धाराधीश धरामहेन्द्र	२०२
धारेश त्वत्प्रतापेन	१७३

	श्लोकः		श्लोकः
न ततो हि सहायार्थे	३३	पारम्पर्यं इवासक्त	१
न दातुं नोपभोक्तुं च	७०	प्रज्ञागुप्तशरीरस्य	१
न भवति स भवति	२८५	प्रतापभीत्या भोजस्य	१९
नभसि निरवलम्बे	२०८	प्रभुभिः पूज्यते विप्र	६
न स्वल्पस्य कृते भूरि	१३	प्रसादो निष्फलो यस्य	४
न हि स्तनंधयी बुद्धि	११४	प्राप्नोति कुम्भकारोऽपि	१८
नागो भाति मदेन	३०८	प्राप्य प्रमाणपदवीम्	१३
नानीयन्ते मधुनि	२४५	प्रायो धनवतामेव	६
नास्माकं शिविका न	२४६	प्रियः प्रजानां दातैव	६
निजानपि गजान्भोजम्	१६७	प्रीतः श्रीभोजभूपः	३२
निमेषमात्रमपि ते	५५	फलं स्वेच्छालभ्यं प्रति	२७
निरवद्यानि पद्यानि	२०३	बलवानप्यशक्तोऽसौ	३
निवासः क्वाद्य नो दत्तो	२७२	बलिः पातालनिलयो	२२
निश्वासोऽपि न निर्याति	२४७	बल्लालक्षोणिपाल त्वद	२७
नीरक्षीरे गृहीत्वा	८३	बहूनामल्पसाराणाम्	१४
नो चारू चरणौ न चापि	२६८	बाल्ये सुतानां सुरते	६
नो चिन्तामणिभिर्न	१९७	बुधाग्रे न गुणान्ब्रूयात्	१२
नो पाणौ दरकङ्कण	२५७	भट्टिर्नष्टो भारवीयो	३१
पञ्चाननस्य सुकवे	१२४	भेकैः कोटरशायिभि	२०
पञ्चाशत्पञ्च वर्षाणि	६	भोजः कलाविद्रुद्रो वा	१४
पण्डिते चैव मूर्खे च	५४	भोज त्वत्कीर्तिकान्ताया	१२
पदव्यक्तिव्यक्तीकृत	१२२	भोजनं देहि राजेन्द्र	८६
पन्थाः संहर दीर्घताम्	१७२	भोजप्रतापं तु विधाय	९
पयोधराकारधरो	२६६	भोजप्रतापाग्निरपूर्व	२९८
परिच्छिन्नस्वादोऽमृत	२४४	भोजे द्रव्यं न सेना वा	१९
परिपतति पयोनिधौ	१६१	भोजेन कलशो दत्तः	२१९
पातकानां समस्तानाम्	५०	मनीषिणः सन्ति न ते	५८
		मरणं मङ्गलं यत्र	११

	श्लोकः ।
महाराज श्रीमञ्जगति	८२
मातङ्गीमिव माधुरीम्	२६१
मातरं पितरं पुत्रम्	३
मातेव रक्षति पितेव	५
मांधाता च महीपतिः	३८
मित्रस्वजनबन्धूनाम्	१५६
मुक्ताभूषणमिन्दुबिम्ब	२५१
मुचुकुन्दाय कवये	२११
मुद्गदाली गदव्याली	१४२
मूर्खो नहि ददात्यर्थं	१०६
मेरौ मन्दरकन्दरासु	२७५
ं यं नृपोऽनुरागेण	१३९
ुञ्छन्क्षणमपि जलदो	१०२
ाम्बु निन्दत्यमृत	२७१
ारस्वतवैभवम्	९५
ाङ्कुरः सुसूक्ष्मोऽपि	४२
ा यथा भोजयशो	७६
्र तत्र हृदयं विद्वन्	४९
तच्चन्द्रान्तर्जलद	२३६
ाति यदाश्नाति	६३
्रचञ्चाः कुष्टिनश्चान्धाः	१९९
्स्यास्ति सर्वत्र गतिः	१३५
ाचितो यः प्रहृष्येत	७१
ान सहासितमशितम्	२५
रथस्यैकं चक्रं भुजग	१६९
ाजचन्द्रं समालोक्य	१७६
ाजन्कनधाराभि	१८६
ाजन् कनकधाराभिः	३१४

	श्लोकः ।
राजन्दौवारिकादेव	३१०
राजन्मुञ्जकुलप्रदीप	२१२
राजमाषनिभैर्दन्तै	८७
राजातुष्टोऽपि भृत्यानाम्	१७
राजाभिषेके मद	३१७
राजा संपत्तिहीनोऽपि	५२
राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः	४४
रात्रौ जानुर्दिवा भानुः	२३३
रामे प्रव्रजनं बले	२८
लक्षं लक्षं पुनर्लक्षम्	१९०
लक्षं महाकवेर्देयम्	६२
लक्ष्मीः कौस्तुभपारिजात	२९
लक्ष्मीक्रीडातडागो रति	२५९
लोभः प्रतिष्ठा पापस्य	१
लोभात्क्रोधः प्रभवति	२
वक्त्राम्भोजं सरस्वत्या	२३०
वदनात्पदयुगलीयम्	२९१
वर्तते यत्र सा वाणी	१६४
वहति भुवनश्रेणीम्	२०७
वाराणसीपुरीवासः	१०८
वाहानां पण्डितानां	१२५
विकटोर्व्यामप्यटनम्	३०
विक्रमार्कं त्वया दत्तम्	१७९
विजेतव्या लङ्का चरण	१७०
विदग्धे सुमुखे रक्ते	३०३
विदितं ननु कन्दुक	२९७
विद्वद्राजशिखामणे	८४
विपुलहृदयाभियोग्ये	९७